स्वप्न की छाया
जौहरी

Manish Pandey (4 June 94)
P.L.C. ; B.B. Mallital
(NTL)

स्वप्न की छाया

उच्चकोटि की कलात्मक - भावात्मक - शिक्षात्मक कहानियाँ

भगवन्त रिख्शा जोशी

M Pandey

प्रकाशकः—
महेशशरण जौहरी 'ललित'
चिन्तन - गृह - प्रकाशन,
मथुरा

★

★

प्रथम संस्करण, १२००

★

मूल्य २॥)

★

मुद्रकः—
रमनलाल बंसल
पुष्पराज प्रेस,
मथुरा

अत्यधिक हर्ष ही की बात है कि आज मैं अपने अग्रज, चिर-परिचित सु-कवि, मर्मी कथाकार-नाट्यकार श्रद्धेय श्रीयुत भगवन्तशरणजी जौहरी की अनुपम कथा-कृति 'स्वप्न की छाया' हिन्दी-पाठकों को प्रस्तुत कर रहा हूँ।

श्री भगवन्तशरणजी उच्चकोटि के कवि हैं। आपके 'अर्चना', 'विदा-बेला में', 'स्वप्न और सत्य' गीत-संग्रहों का निरीक्षण-परीक्षण कर सभी विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रशंसकों में सर्वश्री मैथिलीशरणजी गुप्त, माखनलालजी चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा', बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन', हजारीप्रसादजी द्विवेदी, अमरनाथजी झा, पाण्डेय बेचन शर्माजी 'उग्र', रामकुमारजी वर्मा, चन्द्रप्रकाशजी वर्मा 'चन्द्र' इत्यादि ख्यातिप्राप्त साहित्यकार हैं प्रमुख ही।

हिन्दी का ऐसा कोई मासिक-साप्ताहिक पत्र नहीं--जिसमें कि श्री जौहरीजी के भावात्मक - सरस गीत-कहानियाँ-नाटक-लेख प्रकाशित न होते हों। पिछले बीस-बाईस वर्षों से आप अपनी गति में लिए युगान्तर, निरन्तर ही लिखा करते--नवीन चाह-राह-दाह-आह-वाह लिए हुए ही। निशि-दिन जलना, फिर भी चलना, लक्ष्य आपके जीवन ही का।

वह दिन भूल नहीं पाता हूँ--जब कि मेरे ही समक्ष सन् १९३६ में, मध्यभारत - हिन्दी - साहित्य - समिति, इन्दौर की कहानी - प्रतियोगिता में श्री जौहरीजी को उनकी प्रथम कहानी ही पर सर्वप्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

'स्वप्न की छाया' श्री भगवन्तशरणजी जौहरी की चौबीस कलात्मक-भावात्मक-शिक्षात्मक कहानियों का सरस-मनभावन संग्रह है। सभी कहानियाँ समय-समय पर प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में सगौरव प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इनके विषय में इतना ही कहूँगा कि—

* ये कहानियाँ उन रहस्यों का उद्घाटन करती हैं जो हमारे मन के अँधेरे पर्दों में लिपटे रहते हैं।
* लेखक ने वे नश्तर लगाए हैं जिनसे लहू तो नहीं निकलता पर जो दिल की गहराइयों में उतरते चले जाते हैं।
* कवि की भावुकता का स्थान यहाँ एक बौद्धिक सजगता ने ले लिया है और उसके दृष्टिकोण में एक प्रगतिशील स्वस्थता आ गई है।
* हैं सभी रोचकता, मोहकता और सम्वेदन-शीलता से आर्द्र ही।

आशा है, हिन्दी-प्रेमी इस कला-कृति का उचित मूल्यांकन कर, लेखक की अन्तर-विशालता को भली-भांति जानेंगे-मानेंगे-पहचानेंगे।

भूमिका-लेखक श्रद्धेय गुरुवर्य पण्डित पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' जी, आवरण-निर्माता श्री जगन्नाथजी, पुष्पराज प्रेस-अध्यक्ष श्री रमनलालजी बंसल, ब्लाक-निर्माता कैलाश स्टुडिओ-अध्यक्ष श्री कैलाशचन्द्रजी भार्गव को भी धन्यवाद है निज अन्तर से — इसलिए कि इन सभी से कृति-अर्चन-थाल-माल सँजोने में सहयोग प्राप्त हुआ ही।

गङ्गा-दशहरा,
२०१२ वि०

महेशशरण जौहरी 'कविकिङ्कर'

कथाकार

जब अपनी निगाहों में मैं रत्तीमात्र भी कथाकार नहीं था—याने आरम्भिककाल में—तब हिन्दी-संसार में मुट्ठीभर भी कहानी-लेखक नहीं थे और आज, जब सबकी निगाहों में मैं रत्तीमात्र भी कथाकार नहीं हूँ—तब हिन्दी-संसार में खँचिया-भर नहीं, झौआ-भर नहीं, कूड़ागाड़ी-भर कथाकार हैं—हर-हर सूबे में। देखता हूँ अल्ला-मियाँ की उलटवासी ही चला करती है। स्वराज्य के बाद जरूरत थी इंजिनियरों, वैज्ञानिकों की; मगर, बढ़े देश में कहानीकार, कविता-कार और सिनेमा के अदाकार! मैंने जब कहानी लिखना शुरू किया था (ज़ियादा नहीं आज से ३३-३४ वर्ष पूर्व) तब २५ विद्वानों, साहित्य-मर्मज्ञों के हाथों में कोई रचना पहुँच जाने ही से सुलेखक की प्रतिभा प्रतिष्ठित हो जाती थी। तब पुस्तकें बहुत कम बिकती थीं। पर, आज पुस्तकों की बिक्री से लेखक की प्रतिभा परखी जाती है। उदाहरणतः आप किसी दूसरे लेखक की रचना चोरा कर भी अपने नाम छाप कर कोशिश-पैरवी से उसको कोर्स की किताबों में लगवा कर, दस-बीस हजार प्रतियाँ खपवा सकें, तो, ज़ियादातर प्रकाशक, आपको प्रतिभाशाली मान लेंगे।

अकबर-बीरबल के किस्सों में से किसी में असली आलसियों की पहचान की युक्ति भिड़ाई गयी है और खूब! वैसे ही, असली कलाकार, कथाकार, काव्यकार और नाट्यकार की पहचान की एक

युक्ति मैं पेश करना चाहता हूँ। वह यह है कि हर शहर या बस्ती के बाहर उनकी एक बस्ती अलग हो जो अपने को कलाकार—किसी 'कलर' का—मानते हों और उस बस्ती में न तो मुट्ठीभर दाने हों और न चुल्लू-भर पानी। और शर्त यह रहे, कि कथाकार वह जिसके घर पर आकर जनता स्वयं पानी और दाना पहुँचा जाय। जैसे परमहंसों के पास लोग अमृत आहार पहुँचा आते हैं। तब सहज ही पता चल जाय कि कौन कलाकार है और कौन अवसरवादी रंगीला। अकबर-बीरबल के क़िस्से के नक़ली आलसी, चारों ओर आग लगी देखते ही, जैसे भाग खड़े हुये थे उसी तरह ऐरे-ग़ैरे-नत्थू-खैरे उक्त कलाकार नगर में क़दम रखने की जुरअत भी न ला सकेंगे। और ख़स कम और जहाँ पाक होगा।

ध्यान से देखिये, तो आजकल साहित्य-जगत में ख़ासा तमाशा हो रहा है। पहले लेखक जनता का गुरु था। वही जिधर चाहता था नकेल मोड़ता था। आज जनता लेखक की स्वामिनी है। वह जो माँगती है, लेखक वही देता है। मेरे ही बचपन में साहित्यिक कलाकार होना सहज नहीं था। पर, आज, परब्रह्म होने के बाद, अगर कुछ सहज है, सभी के करने योग्य है, तो वह है कविता करना या कहानी-उपन्यास लिखना। जनता की रुचि कुछ दिनों पहले काव्य-नाटकों की दिशा में थी, तो आज उपन्यास और फ़िल्मों के पक्ष में है।

शायद आज हिन्दी में सबसे जियादा बिकता है आलोचना-साहित्य ; क्यों कि, इसका सीधा सम्बन्ध शिक्षा-संस्थाओं से, छात्रों से होता है। ग़र्ज़ कि आमदनी, मुनाफ़े की निग़ाह से आज छात्रों और बच्चों का साहित्य प्रकाशकों और लेखकों के लिये टकों की टकसाल बन रहा है।

फिर भी, कथा-साहित्य का वर्त्तमान-समाज पर सम्मोहन महान है। हिन्दी कथा-साहित्य का भविष्य भी बिलकुल महान है। आज हिन्दी राष्ट्र-भाषा है। आज हिन्दी पर अन्तर्राष्ट्रीय निगाहें जम रही हैं। पुराना हमारा बहुत है—हाँ; पर, मात्र पुराने से कहीं आज का काम चलता है! तेज नयों में होना चाहिये जिसमें दृढ़ता पुरानी हो और रोशनी नयी।

मेरे मते किसी कला का पारङ्गत कलाकार बनना हँसी-ठट्ठा नहीं है। इस धन्धे में—अगर इसे 'धन्धा' कहा जा सके—यश तो है ही, धन भी है। फिर भी बिना अभ्यास किये, बिना खटे, तपे, समझे, सोचे, जब—अक्सर—हम अपने आप को नहीं जान या समझ पाते तब, निर्विकार बुद्धि से, सारे आलम को क्या समझ-समझा सकेंगे! फलतः, फ़िलहाल, हिन्दी-साहित्य में हर साल हज़ारों कहानियाँ लिखी जा रही हैं और सैकड़ों उपन्यास; पर इन सब में गूदा कितना है और कितना छिलका, रेशा, गुठली, यह जानकारों से छिपा नहीं है। धार्मिक-पुस्तकों की बात मैं नहीं कहता; नहीं राजकीय 'पैम्फलेटों'—पुस्तकों की चर्चा; पर मुझे नहीं मालूम, कि हिन्दी में ऐसा कोई प्रकाशक आज है जो किसी भी 'जनरल' बुक की ५००० हजार प्रतियाँ छापकर एक वर्ष में खपा सकता है। हिन्दी-प्रकाशक किसी पुस्तक की साधारणतः ११०० या २२०० प्रतियाँ छापते हैं और फिर साधारणतः उसी संस्करण को अनन्तकाल तक बेचते रहते हैं—कम से कम लेखक के अन्तकाल तक। कुछ प्रकाशक अब रायलटी का महत्व झखमार समझ चले हैं। वे रायलटी देने की बातें फैशन से करने लगे हैं; चोटी के लेखकों को चाँदी के चन्द टुकड़े अग्रिम (एडवान्स) भी मिलने लगे हैं; पर, इनका सही रूप प्रकट होता है लेखक की रकम का उचित हिसाब करते वक्त। बेशक

चन्द प्रकाशन-संस्थाएँ ऐसी भी हैं जहाँ वादे के अनुसार, हमेशा, समय-समय पर हिसाब हुआ ही करता है। लेकिन इन संस्थाओं में भी अजीब और ग़रीब सुलेखकों की 'पीर' पाने वाले प्रकाशक विवेकवान कितने हैं? कहाँ हैं? नतीजा यह कि आप कुछ लिखें;— बिकेंगी साल में हद से हद ११०० प्रतियाँ। सो भी अच्छे विक्रेता की व्यवस्था, वरदान या प्रसाद अथवा कृपा से!

क्या समझा आपने? हिन्दी में, याने राष्ट्र-भाषा हिन्दी में, ख़रीद कर पुस्तकें पढ़ने वालों की संख्या है महज़ ११००। मैं दावे से कहता हूँ, हिन्दी में, हर तरह के लेखकों की संख्या पाठकों की संख्या से पाँचगुनी नहीं, तो चौगूनी या तिगूनी तो ज़रूर बड़ी होगी। देहाती कहावत 'आँख एक--कजरौटे नौ!' यह हिन्दी के वर्त्तमान कलाकारों की हवा है—गुम-सी। उधर पड़ोसी सुभाषा बंगला के अनेक फलद कलाकारों में से केवल एक शरतचन्द्र चटर्जी की रचनाओं को ले लीजिये जिनकी सुन्दर पुस्तकों के अनेक संस्करण बिना हर्रे फिटकरी लगाये हिन्दी के प्रकाशक निकालते हैं और लाखों प्रतियाँ प्रतिवर्ष चारों ओर बेचते हैं। और फिर छापते हैं; फिर बेचते हैं। मैं पूछता हूँ ऐसी क्या बात है कि बंगला से हिन्दी में आकर शरत बाबू की पुस्तकें बिक जायँ सहस्र-सहस्र और हिन्दी के लेखकों की रचनाएँ बस ११०० तक सीमित रहें—सारे साल!

मेरे कहने का अर्थ यह नहीं, कि प्रकाशक ही सरासर दोषी हैं। दोषी वे अध-पके नामधारी कलाकार भाई भी हैं, जो बेसलाह, बिना इसलाह आयँ-बायँ-शायँ लिखते ही विश्व-साहित्य के कूड़ेख़ाने की लिस्ट में दाख़िल कराने को किसी पत्र-पत्रिका या प्रकाशक के दफ्तर की तरफ़ दौड़ पड़ते हैं। और, नाज़िल होते ही, साहित्य-जगत में प्रेत की तरह असुन्दरता, घृणा और भय भर देते हैं। और फिर

अपनी कमज़ोरी, तपहीनता, कुरूपता देखे बगैर दोहाई देने लगते हैं, कि नये लेखकों को कोई उत्साह या प्रश्रय ही नहीं देता। मेरे मते उत्साह या प्रश्रय माँगा या पाया नहीं जाता, सीने और सर याने हृदय और बुद्धि से लिया जाता है।

कवि या लेखक बनने वालों को मेरी यह सलाह है कि वे भविष्य में आगे कलम या कदम उठाने के पहले विश्व के कम से कम आधे दर्जन रससिद्ध कलाकारों की एक-एक रचना तो पढ़ें या पढ़ सकने में असमर्थ 'कबीर'–टाइप के प्रतिभाशाली हों, तो किसी अन्य मुख से सुनें। कबीरदास ने पढ़ा भले ही न हो; पर, अपने समय के बुजुर्गों और गुरुओं से सुना कम नहीं था।

हिन्दुस्तान का हलवाई जिलेबियाँ बनाते वक्त पहली जिलेबी आग में डाल देता है। निर्माण और आस्वादन दोनों दृष्टियों से जिलेबियाँ चन्द घण्टों की कला। इसी न्याय से काव्य या कथा-निर्माण को बरतें, तो, एक-दो नहीं, बीसियों रचनाएँ अग्निदेव को समर्पित करने के बाद कोई एक रचना दुनिया के सामने लाई जाय, तो ठीक। क्यों कि, काव्य और कथा की आयु अनन्त और अपार होती है। सौ में निन्नानवे लेखक अपनी आरम्भिक कृतियाँ जला दिया करें, तो ठीक। अलबत्ता एक की मैं नहीं कहता, जिसे लोग 'अपवाद' कहते हैं और जो भगवान महाकवि शङ्कराचार्य की तरह आँखें खोलते ही 'भुवन त्रयम्' के वर्णन की शक्ति रखता है। ऐसे अपवाद संसार के लिये भयानक होते हैं इसलिये, कि दुनिया में मूर्खों की आबादी घनी है।

अब अवश्य कोई पूछ सकता है, कि 'स्वप्न की छाया' की भूमिका लिखते समय उक्त बातें इतने विस्तार से कहने की क्या

ज़रूरत थी ? क्या इस काम के लिये यही जगह थी ? निवेदन यह है, कि मैंने यह कर्म आजकल के बड़े-बड़े नेताओं के आचरण के अनुकरण में किया है। जैसे नेता लोग कोयलों की दूकान का उद्घाटन करते हुये भी आरम्भ अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थियों की कठिनाइयों से करते हैं और अन्त भी ; बीच में कहीं-कदाच कोयलों की चर्चा हो गयी तो हो गयी ; नहीं तो बड़े नेता की बला से।

रही यह पुस्तक 'स्वप्न की छाया' जिसमें छोटी-छोटी दो दर्जन कहानियाँ हैं। साफ़ पेपर, साफ़ छपाई, साफ़ हिन्दी में लिखी हुई है यह पुस्तक 'स्वप्न की छाया'। वैसे इस पुस्तक के लेखक श्री भगवन्तशरणजी जौहरी मेरे काफ़ी निकट के सुहृद हैं ; पर मेरी दिली दोस्ती सारे मालवा से है ; जिसके भगवन्तशरणजी एक प्रतीक-कण हैं। भगवन्तशरणजी प्रौढ़, हिन्दी-मर्मज्ञ, प्राध्यापक और सुकवि भी हैं। 'स्वप्न की छाया' की कई कहानियाँ छोटी होने पर भी ऐसी मर्म-स्पर्शिनी हैं जो पाठक के हृदय में एक टीस-सी छोड़ कर मौन हो जाती हैं। मैंने इस पुस्तक की भूमिका इसलिये लिखी है कि जौहरीजी और भी उत्साह से इस क्षेत्र में चमत्कार दिखावें। एवमस्तु।

दिल्ली, प्रवास
१-६-५५

बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन'
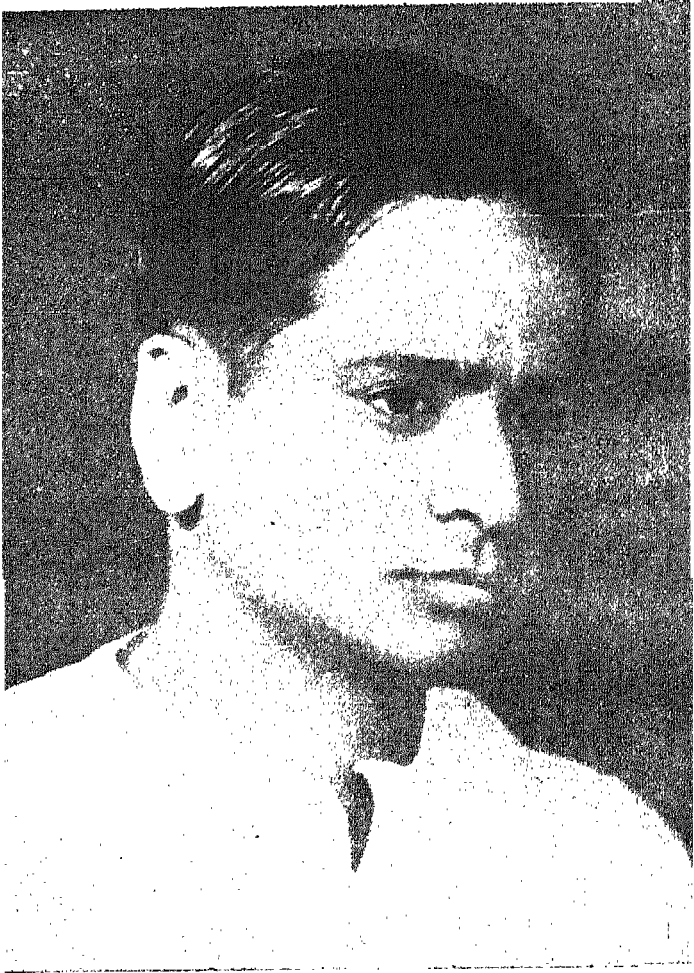
कथाकार

दो शब्द

मेरी कहानियों का यह पहिला संग्रह प्रकाशित हो रहा है। मैं नहीं जानता कि पाठकों को ये कहाँ तक रुचिकर होंगी। जो भावनाएँ मैं कविता में सहज प्रकट न कर सका उनके लिए मैंने कहानी के माध्यम को चुना एतदर्थ संभव है कि कुछ सामाजिक समस्याओं को मैं स्पर्श कर सका होऊँ। उनके साथ कहाँ तक न्याय कर सका हूँ, यह दूसरी बात है।

प्रिय बन्धु ललित ने इस पुस्तक को प्रकाशित किया है पर वह मेरे इतने निकट हैं कि उन्हें किसी प्रकार धन्यवाद नहीं दिया जा सकता। प्रभु उन्हें चिरंजीवी करें।

हिन्दी विभाग,
माधव कालेज,
उज्जैन।

— म० श० जौहरी

गति-क्रम

कहानियाँ	००	पृष्ठ

कहानियाँ		पृष्ठ

जीवन का खेल

मेल 'धक-धक' चला जा रहा है धुएँ के गुब्बार उड़ाता। कितने यात्री नहीं बैठे हैं उसमें। बाल, युवक, युवतियाँ, वृद्ध, धनी, निर्धन, भद्र, निम्न सभी श्रेणियों के व्यक्ति। किन्तु एक लक्ष्य सब किसी के साथ है, वहाँ जाना है, यह करना है। अमुक दिन वापिस होना है। लक्ष्य और विचार प्रेरक जो हैं, कर्म तो बाद में जग पाता है। इसी नियम से सृष्टि चल रही है पर विनय का सब कुछ विपरीत है। बैठा वह भी है एक डिब्बे में पर जानता नहीं, कहाँ जाना है, क्या करना है। उसके मनीबेग में जो कुछ भी रुपए-पैसे थे उन सबको विमनस्क भाव से एक टिकिट से बदल लिया है उसने, जो उसे दूर-से-दूर कहीं ले जाकर पटक सके, इतनी दूर जहाँ अपने कहलाने वाले नर-पिशाचों की परछाईं तक उसे बाधा न दे सके। भौंचक्का रह गया बाबू भी यह सुन कर कि इतने रुपयों में जितनी दूर, जिस दिशा का भी टिकिट आ सके, दे दीजिए। सारी नौकरी में उन्हें यही जगत का आठवाँ आश्चर्य दिखा है।

विनय को सम्पन्न परिवार में जन्म लेने का बोध है, स्मृतियों के अगणित ताने-बाने फैले हैं। इस अकिंचन जीवन में उसने कौन कौन से घात-प्रतिघात नहीं सहे। इस तरुण नामधारी तन के अन्तर में कौन-सा जर्जर, उद्विग्न, वृद्ध सो रहा है इसे वह स्वयं नहीं जानता। शिक्षा ने उसे गम्भीर अवश्य बना दिया है पर दृष्टि पैनी जो हो गई है वह उस जैसे वृथाभावुक के लिए कहाँ तक शुभ है। वह वस्तु के

आर-पार देखता है और यहाँ, वहाँ सर्वत्र घृणा से मुँह फेर लेता है। जान कर भी स्वीकार नहीं कर पाता कि यह संसार है, परिस्थितियों से समझौता कर के ही यहाँ रह सकते हो, कुछ पा सकते हो। जहाँ तुम छिद्र-ही-छिद्र पाते हो, वहीं स्वर्गीय गुण भी निवास करते हैं न। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है फिर तुम्हारे मानसिक धरातल और मापदण्ड के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति हो भी तो नहीं सकता। माना तुमने कुछ खो दिया है, बहुत मूल्यवान, अपना एकमात्र आधार ही परन्तु अब तो जो यहाँ शेष है उस ही से तुम्हें मन समझाना होगा, रहना होगा और समय पूरा कर एक दिन स्वयं खो जाना होगा। कहाँ, कैसे, इसे भी कोई जानता है?

सो विनय चला जा रहा है प्रवाह में बहते तिनके की भाँति गुमसुम, शिथिल तथा सन्ताप के बोझ से दबा भारी-भारी। एक जंकशन पर गाड़ी रुकी। उतर पड़ा वह भी, कैसी भीड़-भाड़ है। जिसे देखो प्रसन्न। खाने-पीने में व्यस्त, चहलकदमी करते पति-पत्नी, बच्चे, उल्लास और गर्व से उमड़ रहे हैं। तो क्या सृष्टि भर में वह, केवल वही एक शून्य में डूबा है। दुनिया अन्ततः जीने के लिए है तथा जीने के हेतु सुख, शान्ति, खिलवाड़ कुछ तो चाहिए भला। पर उसके पास कुछ भी नहीं है। वह जिये तो किस के लिए, न भी जिए तो उसके लिए आँसू बहाने वाला भी है क्या। पर उसके बाद उसको कोई याद करे इस उलझन में वह क्यों खोया रहे। प्यास तो मृगतृष्णा है फिर ममता, स्नेह, साहचर्य की प्यास किसे कहाँ ले जाएगी और किस स्थान पर नीड़ बनाने का आदेश देगी, यह कौन जाने। विनय! दूसरों को अपनी ओर खींचने के बजाय उनसे खिंचे रहने में ही लुत्फ है।

: २ :

इस नए डब्बे में एक दम्पति और उनकी एकमात्र कन्या के अतिरिक्त और कोई नहीं है। विनय के प्रवेश करते ही प्रश्न हुआ—

'तुम कहाँ जाओगे, भय्या!'

'कुछ ठीक नहीं है' उसने रूखा उत्तर दिया परन्तु भय्या शब्द की स्निग्धता तथा आर्द्रता ने उसे छुआ, यत्किञ्चित् झकझोरा भी। कौतूहल से दृष्टि ऊपर उठाई कि सन्न। यह आकृति तो चिरपरिचित है। इस कंठ के माधुर्य को वह कैसे भूल सकता है। उसके रोम-रोम में जो गमक धँसी है वह यहाँ, यों। उसने देखा और सोचा। सोचा और देखा। और पूछ ही तो बैठा—'आपका परिचय ?'

'मैं लीला, महिला कालेज के पहले वर्ष में हूँ। और आप ?'

'मैं हूँ विनय, अङ्गरेजी में डी० लिट्० ले चुका हूँ।'

'बहुत छिपाया आपने स्वयं को। आप तो मेरी प्रभा के भाई हैं। आप मुझे नहीं जानते पर मैं आपको जितना जानती हूँ, उतना कदाचित् स्वयं को भी नहीं। आह प्रभा मानो मेरी जन्मों की सहेली थी। कितनी स्वस्थ, कैसी भोली, हँसी बखेरती, आशा और अरमानों से ओत-प्रोत। क्षय को उस पर भी दया न आई।'

विनय अब आँसू न पी सका। दोनों ही रो कर कुछ स्वस्थ हुए।

'तो आजकल आप क्या कर रहे हैं ?'

'निरुद्देश्य यात्रा !'

'और नौकरी ?'

'उसे तो प्रभा अपने साथ ही लेती गई।'

'पर आपने यह क्या कर डाला। अपनी शकल तो आइने में देखिए। आपको नहीं मालूम। प्रभा मुझ पर एक ऋण लाद गई है। घर पहुँचते ही मैं आपको पत्र देने को थी। आप पिताजी से पूछ सकते हैं। जब तक आप विवाह न कर लें, आपकी देख-रेख का भार मुझ पर होगा। आज से मैं आपकी प्रभा हूँ। शक्ल-सूरत, विद्या-बुद्धि, गुण-अवगुण सभी में उन्नीस-बीस प्रभा ही हूँ। फिर मेरे भी कौन भाई है। आपको मेरे साथ चलना ही होगा।'

'पर मेरा मन दुनिया से बहुत दूर हट गया है।'

'जब तक एक भी व्यक्ति को, चाहे वह कितना ही अकिंचन हो तुम्हारी आवश्यकता है तब तक तुमको ऐसा बनने का अधिकार नहीं है। उसे जीते जी निष्प्राण रख छोड़ने से भला प्रभा की आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती। मन को व्यक्ति से ऊपर उठा विश्व में फैला दो। तुम हर कन्या में प्रभा को ढूँढ़ सकते हो। आज देश को; देश की बहिनों को तुम्हारे संरक्षण की नितान्त आवश्यकता है। क्या तुम पीठ दिखाओगे ? संसार के सुख-दुःख सापेक्षिक हैं, यह कर्मक्षेत्र है। तुम्हें अन्तिम श्वास तक कर्म में डटे रहना होगा, परिणाम कुछ भी हो। जो चला गया वह फिर अनन्त शान्ति में विलीन हो गया। जो शेष है, मुश्किल उसी की है। मन यदि आहत है तो वह अपने लिये न जिए। त्याग, बलिदान और आत्माहुति सभी का देय तो हो नहीं सकता, विनय बाबू !'

और विनय मौन है एकदम। इसका भी कोई उत्तर है।

'मेरी लीला का स्वास्थ्य प्रभा के बाद से एकाकी तथा शून्य होने के कारण नित्य गिरता जा रहा है। तुम उसके भाई भी हो, शिक्षक भी। तुम न मानोगे तो जहाँ तुम रहोगे, वहाँ हम सबको ठहरना होगा।'

: ३ :

विनय लीला के घर आ गया है। उसे आ जाना पड़ा है। यहीं तक नहीं, खाना-पीना, घूमना-फिरना उसे नियमित रूप से निभाना पड़ता है। उसे जरा विलम्ब हो जाए तो घर भर भोजन को बैठा रहता है। साथ ही लीला को पढ़ाना भी पड़ता है। उसकी विचारधारा में इस सबसे बहुत बाधा पड़ती है पर क्या करे, क्या न करे। यन्त्रचालित-सा निर्जीव मन ले सब कुछ निपटा ही देता है।

गहराई नापना न चाह कर भी हो ही जाता है। लीला में प्रभा ज्यों की त्यों प्रतिबिम्बित है। भोली, नटखट, हँसोड़ और

उत्सर्गपरायण। उसका सब काम स्वयं वह करती है। अहर्निश प्रयत्न करती है कि वह प्रसन्न रहे। किसी के अपनत्व में विलीन हो जाने का जो सुख है उसे उसका मन ही खूब जानता है। लीला के माता-पिता की ओर विनय जब दृष्टि डालता है तब कृतज्ञता में गड़ जाता है। उसके अपने माँ-बाप भी उसके लिए इतना कर पाते या नहीं कौन जाने।

सोचता है अनाथ व्यक्ति जीवन में भटकन ही भटकन पाता है। ठोकरों में ही समाप्त हो जाने भर को बना है वह। नियति का सब से बड़ा बवण्डर है वह। माँ-बाप दो ढकनों के समान हैं जो नमी, धूप, वर्षा, शीत और तूफानों से, अपने मिटने तक रक्षा करते हैं। उसके परे वह संसार की कुटिलताओं से स्वयं आत्म-भक्षी बन बैठता है। मिट जाना ही उसको साध रह जाती है; पर जीवन की लम्बी थकान के बाद, मृत्यु के ठीक छोर पर, यह शीतल झरना जो उसे मिला है, उसे वह किस तरह स्वीकार करे। साथ खाना, साथ घूमना, साथ पढ़ना। सगे भाई-बहिन भी इतने पास नहीं रह पाते।

प्रभा, क्या तुम्हारा जीवन में फैला मोह पर्याप्त नहीं था। ध्रुवतारे की भाँति, लीला के रूप में आज भी तुम विनय की प्रतिच्छाया हो मँडरा रही हो। जन्म-जन्मान्तर तुम इसी तरह साथ रहोगी। तुम्हारी स्नेह-ऊष्मा ने कर्म-बन्धनों को भी काट फेंका है। प्रति क्षण विनय यही सोचता है कि प्रभा की आत्मा सदेह पृथ्वी पर स्थित है, यही लीला। उसे लीला के लिए जीना ही पड़ेगा। वह किसी प्रकार नहीं मर सकता।

लीला ने विनय को अपने जैसा बना लिया है या वह वैसी बन गई है, यह विश्लेषण की वस्तु नहीं। कहीं विवाद नहीं, कहीं मतभेद नहीं, जैसे एक वस्तु के दो पहलू हों।

संसार को लेकर व्यक्ति क्या है, व्यक्ति से विश्व की आस्था

है । लीला के माता-पिता ने भी विनय में एक समाधान पा लिया है। आत्मरक्षण के साथ ही मोह, ममता, स्नेह और सुख-साधन का। उन्हें लगता है कि लीला का शुभ जितना विनय में मूर्तिमान है, वह उन्हें स्वप्न में भी दुर्लभ था। यह अवश्य कि लीला का विवाह होगा, पति होगा, सन्तानें होंगी, वह उनमें रम भी जायगी पर होश सँभालने के दिन से वह जो कहती है, वह अनुचित नहीं। पति की एक मर्यादा है, एक राह है। उसकी सप्राणता भी कृत्रिम है। वहाँ 'स्व' ने इतने पंख फैला रक्खे हैं कि 'पर' के लिए कोई स्थान ही नहीं। प्रभा के पति ने ही उसकी मृत्यु के तीसरे दिन ही स्वयं आगे बढ़ कई युक्तियों से अपनी सगाई कर ही तो डाली। जहाँ व्यक्ति इतना जाग्रत है वहाँ नारी स्वयं को मिटा कर खाक कर दे इसमें है भी क्या! पति के स्नेह का केन्द्र स्थान है, व्यक्ति नहीं। स्थान जितनी बार रिक्त हो, उसके जीवन में नवागान्तुकों के प्रवेश से नित्य नया और मादक रस घुलता जाता है। इसी से मन का विश्राम, पति के नीचे, दाएँ-बाएँ अन्यत्र कहीं हो सकता है, पति के नाम में कदाचित् नहीं।

: ४ :

साम्प्रदायिक वैमनस्य ने शहर की दशा में भय और कडुआहट को घोल दिया है। बीज बो दिया गया है, फल-फूल तो युगों निकलते रहेंगे। चारों ओर सनसनी बिखरी है। लीला के आँसुओं ने अपने विनय भय्या से कितनी बार भीख नहीं माँगी है कि बाहर न जाया करो परन्तु व्यक्ति में जो मनुष्यत्व का आन्दोलन है वह उसे निष्क्रिय तथा वीतराग नहीं बैठने देता। अन्न की त्राहि-त्राहि व भीषण भुखमरी ने विनय को विवश किया कि वह उस सूची को पुलिस में दे आवे जिसमें सेठों के खलिहानों का ब्योरा था। लीला जरा इधर-उधर थी कि उसने एक इक्का रोका और चल पड़ा। आधी राह भी पार नहीं

कर पाया था कि उस पर आक्रमण हुआ और वह धराशाई हुआ। सिर में इतनी भीषण चोट लगी कि तत्काल मूर्च्छित हो गया।

लीला को अस्पताल में सेवा करते दो दिन-रात बीत गए हैं पर विनय ने आँख नहीं खोली है। उसकी साँस-साँस आँसू बन गई है। नींद-भूख विनय की पलकों में उलझी है। बार-बार ईश्वर से मनाती है, कहती है, मेरे जीवन का कोई पुण्य ही फल जाय। उसके माता-पिता भी पत्थर की मूर्ति बने बैठे हैं। दस-दस डॉक्टर देख रहे हैं। रुपया पानी-सा बहाया जा रहा है पर चोट भयंकर है।

अभी-अभी विनय ने आँखें खोली हैं। लीला में जान आ गई। डाक्टरों ने सम्मिलित सम्मति दी 'रक्त बहुत निकल गया है, किसी का खून देना होगा। लीला ने तत्क्षण हाथ फैला दिया। फूट-फूट कर रोने लगी, कहा—'जल्दी कीजिए।' विनय ने संकेत से बहुत रोका पर अपने चरणों को जब उसके आँसुओं से तर पाया तो कुछ न बोला।

छः मास की अविरत सुश्रूषा और आत्मालोड़न से लीला अपने विनय को पुनः पा सकी है। उसकी निगाह में विनय अब सहस्रशः और उठ गया है। अभी तक वह उसे वरदान समझती थी, अब वह तपस्या का पुरस्कार था।

विनय एकदम भूल गया है कि वह अनाथ है, उसकी इकलौती बहिन प्रभा अब नहीं है। लीला ने उसे जीत ही नहीं लिया, कर्मरत भी बना दिया है।

एक दिन सहसा बोला—'बहिन, आज तक तुमने सब कुछ बिना माँगे दिया है। आज एक भीख माँगता हूँ। इसे प्रथम साथ ही अन्तिम भी समझो। किसी प्रकार मना न करना।'

'तुम्हें कुछ भी अदेय है, भय्या!'

'नहीं, पहिले वादा करो।'

'मैं तुम्हारा विश्वास तक नहीं जीत पाई आज तक ।'

'कुछ हो, स्वीकार करो ।'

'अच्छा भाई, कहो ।'

'तुम विवाह कर लो पर मेरे लिए कभी हठ न करना ।'

विवर्ण हो उठी लीला एकदम । जरा सभँल कर बोली—

'पर बदले में एक चीज तो देना ही होगी ।'

'कहिए सौदागरजी !'

'तुम्हें आजीवन मेरे साथ रहना पड़ेगा ।' और वह मुस्करा उठा ।

ईसा

प्रणय-आवेग, हर्ष-शोक, आशा-निराशा की वह अन्तिम रात्रि थी। माने हुए हकीम जवाब दे चुके थे। मुमताज शाहजहाँ की गोद में मग्न थी। आँखों से बेबसी टपक रही थी जैसे चंद घड़ियों की महमान हो और उसे कोई छीने ले जा रहा हो। जीवन कितना क्षण-भंगुर है, विलास उससे भी अनित्य। उसकी पुतलियों में प्रेम के सभी चित्र घूम गए और लगा कि सब समाप्त हो गया है। वह जा रही है, उसे कोई नहीं रोक सकता, कोई भी नहीं। काश वह कुछ दिन और जी सकती। सब कुछ पा कर भी उसे लगता है कि अभी जीवन में देखा ही क्या है पर एक विवश खिन्नता उसके चेहरे पर पुत गई। दोनों हाथ शाहजहाँ के गले में डाल कर बोली······'मैं चली!'

'ऐसी बात न कहो, तुम अच्छी हो जाओगी।' उसका सिर थपथपाते हुए बादशाह ने कहा।

'आशा व्यर्थ है, मुझे जाना ही होगा।'

'ऐसा नहीं हो सकता', वह अधीर हो बोला।

'तुम्हारी मुहब्बत अपनी साँसों के साथ लिए जाती हूँ। जिस जिन्दगी में जाऊँ, तुम्हीं मेरे शोहर हो, यही इल्तिजा है उस परवर-दिगार से।'

'खुदा के लिए ऐसा न कहो।' उसकी आखें भर आईं।

'बुलावा आ चुका है, चन्द लहमे बाकी हैं। अब भी धोखे में रहूँ? अब भी दिल की बात तुमसे न कहूँ? एक आँसू का कतरा

उसकी पेशानी पर गिरा और उसने सुना 'बेगम! कहो, सब कुछ कहो, कुछ बाकी न रहे।'

'मेरे दिलोजान के मालिक! सबसे पहले मुझे मुआफ कर दो अपने गुनाहों के लिये जिससे मैं राहत की नींद सो सकूँ' उसकी आँखें भी उमड़ पड़ीं।

'यह क्या कहती हो मलिका! गुनहगार तो मैं हूँ। यह उल्टी माफी कैसी?'

'दूसरे यह कि अल्लाह ने हमारी मुहब्बत की याद को तरो-ताजा रखने के लिये कई बच्चे दिये हैं। आप अब निकाह न करना। कौन जाने तुम्हारी नई बीबी हमारी औलाद से हसद रक्खे।'

'मैं वादा करता हूँ मलिका!' दूसरी ही साँस के साथ उसने मजबूती से जवाब दिया।

उसके चेहरे पर रोशनी लहलहा उठी, बोली—'और आखिरी जुस्तजू यह है कि मेरी याद में एक ऐसी इमारत बनवाना जिसके जोड़ की दुनिया के पर्दे पर दूसरी न हो।'

'ऐसा ही होगा मेरी मलका!'

और रात की खिसकती घड़ियों के साथ शाहजहाँ के सुखों के सपने भी ढीले पड़ने लगे। उसने आज जाना कि इन्सान कितना छोटा है। सारे हिन्दुस्तान का बादशाह होकर भी, वह अपनी सबसे अजीज चीज को भी जरा रोक तक नहीं सकता।'

'बच्चों को जरा बुलवा दो, एक निगाह देख लूँ, वक्त हो गया' कहते-कहते जो निगाह बच्चों पर पड़ी, वह खुली की खुली ही रह गईं। शाहजहाँ फूट-फूट कर सिसक उठा। यह उसकी जिन्दगी की सबसे बड़ी हार थी।

: २ :

दूसरे ही दिन किले में से बादशाह ने देखा कि जिस चुनीदा जगह पर मलका दफनाई गई थी, वहाँ काम शुरू हो गया।

हिन्दुस्थान के हर हिस्से में फर्मान जारी कर दिये गये और हर राजा ने यह खुशकिस्मती और फख्र समझा कि वह बादशाह को बढ़िया से बढ़िया पत्थर, सामान और कारीगर पेश करे। दिन-रात गाड़ियों की कतारें आना शुरू हो गईं। संगमरमर, संगमूसा और कई किस्म के बेशकीमती पत्थर आ गए। फारस से भी चुने हुए संगतराश हाजिर हुए। थोड़े दिनों में एक मेला-सा लग गया। जिधर देखो उधर यही चहल-पहल थी। बादशाह को इसके सिवा मानो कुछ काम ही नहीं रह गया था। उनके सामने रह-रह कर मुमताज की हसरत भरी आँखें घूम जातीं जो इशारा करतीं 'मेरी याद में एक बेजोड़ इमारत बनवाना' और वह तड़प उठता, सोचता अगर वह यह काम मुझे न सौंप गई होतीं तो इस बची हुई मायूस जिन्दगी के दिन काटता भी कैसे। उसे हर तरफ अँधेरा नजर आता था। खयाल होता कहीं इमारत पूरी होने से पहले मैं न चल दूँ वर्ना उस हुस्न की पुतली को क्या जवाब दूँगा और वह नए जोश और जिंदादिली से मन को काम में जुटा देता।

ईसा सब कारीगरों का सरदार था। गजब का काबिल और सूझवाला। बादशाह उसके कायल थे। हजारों कारीगर थे पर उसके सामने सब मिल कर भी कुछ न थे। बादशाह बखूबी जानते थे कि इतनी लाजवाब इमारत का तामीर होना सिर्फ उस पर मुनहसिर है इसलिए वे उसके बिना मोल के गुलाम थे। कलाकार सिरफिरे जीव होते हैं इसलिये उसकी खुदी और नखरों को मुतवातिर थामे रहना कोई खेल न था पर जहाँपनाह जिसके इशारों पर नाचते हों उसे क्या परवाह थी। जो दरकार हो हाजिर और कोई उसकी राह में दस्तन्दाजी नहीं कर सकता था, यही बादशाह का हुक्म था। हुजूर पर उसका इस कदर रौब गालिब था कि वह महल के एक हिस्से में रहता था और बादशाह उसे भाई जैसी इज्जत बख्शता। जिस ठाठ से

वह रहता था उससे लगता मानो कहीं का राजा हो पर ख्यालों का नेक, खुदा परस्त और जाँनिसार शख्श था। रात-दिन एक ही ख्याल उसके दिमाग में घूमता कि यह इमारत दुनिया के पर्दे पर बेजोड़ हो। खुदा ने दिमाग भी उसे वह दिया था कि एक-एक ख्याल लाख-लाख रुपये का था। बादशाह उसकी बात सुनते और गले से लगा लेते कि वह उनका अहसान ताजिन्दगी नहीं भूलेगा।

: ३ :

एक दिन की बात, शाहजादा औरङ्गजेब खेलते हुए ताज की तरफ जा पहुँचे। कई हिस्सों की सैर की पर अटक गये जाकर एक जगह। देखा एक कारीगर एक बेशकीमती पत्थर पर कुरान की आयतें खोद रहा है पर पत्थर इस कदर छोटा है कि उस पर आधी आयत ही खुद पाई है।

शाहजादे ने हर तरफ निगाह दौड़ाई पर और कोई बाकी बची आयत को खोदता नजर न आया। यही क्यों उतना बढ़िया पत्थर ही कहीं नहीं था। बड़े परेशान हुए शाहजादे और डाँट कर बोले उससे—'तू यह आधी आयत क्यों खोद रहा है, यह गुनाह है।'

'माफ कीजिये जब तक काम पूरा न हो जाये मैं कुछ अर्ज नहीं कर सकता।'

'तुम्हारी यह हिम्मत, जानते हो मैं कौन हूँ।' तपाक से बोले वे।

'आप कोई भी हों पर उस्ताद ईसा की हिदायत है कि यह राज किसी को न बतलाया जावे।

'कौन है ईसा? हमारी इमारत और हमें ही उसकी वफियत से मुस्तस्ना रहना पड़े। यह बेइज्जती नाकाबिल बर्दाश्त है। मैं अब्बा से इसकी शिकायत करूँगा।' इतने में ईसा खुद उधर आ निकले। सब सुन कर बोले—'जनाब! आप यहाँ से बाहर हो जावें।'

'यह कभी नहीं हो सकता। आप नहीं जानते कि हम शाहजादे हैं।'

'इसीलिये तो कह रहा हूँ। आप दखल देंगे तो काम हरगिज पूरा न हो सकेगा। फर्ज के आगे कोई कुछ नहीं है। आप को जाना ही होगा। काम पूरा होने पर आप सब जान जायेंगे।'

'मैं अभी जाकर अब्बा से कहता हूँ। मेरी यह बेइज्जती। आपकी नौकरी आज खत्म है।'

'शुक्रिया।'

और गुस्से से बेकाबू हो शाहजादा वहाँ से चल दिया। बादशाह ने सब हाल सुना तो बोले—'गलती तुम्हारी है। तुम वहाँ गए ही क्यों ? मैं ईसा से कुछ नहीं कह सकता। वह दुनिया का सबसे बड़ा आदमी है। उसका छोड़ा काम फरिश्ते भी पूरा नहीं कर सकते। मैं नमाज के वक्त रोज दुआ करता हूँ कि कम से कम ताज बनने तक खुदा उसकी उम्रदराज करे।'

दूसरे दिन ईसा बादशाह को उसी कारीगर के पास ले गया, बोला—'हुजूर ! यह पत्थर दुनिया भर में तलाश करने पर इतना ही मिला। यह आयत सदर दरवाजे पर चस्पां होगी।' बादशाह ताज्जुब में देखते रहे कि आयत आधी है। इतने में ईसा के इशारे पर कारीगर ने छेनी से उस पत्थर के टुकड़ों को अलग किया। बादशाह की हैरत हजार गुनी बढ़ गई जब उसने देखा कि बाकी आधी आयत, पत्थर के दूसरे टुकड़े पर खुदी मिली जो अभी तोड़ कर अलग किया गया था। पत्थर के अन्दर की खुदाई हैरत अङ्गेज थी। दोनों पत्थर मिल कर पूरा दर्वाजा हुआ।

: ४ :

आज बड़ी खुशी का दिन था। ताज पूरा हो गया था। काम करते-करते लोगों की उम्र पूरी हो चली थी। पचीस बरस कुछ कम होते हैं। अपने घरों को लौटने के लिए सब बेकरार थे। यह इनाम

बाँटने का दिन था। बादशाह सलामत और सब कारीगर मौजूद थे। सबके मुँह पर खुशी और रौनक थी।

'आप सब का मैं निहायत शुक्रगुजार हूँ। कोई भी रकम आपकी खिदमत का मुआवजा नहीं हो सकती। आप लोगों ने जो अहसान किया है उसे मैं ही नहीं याद रक्खूँगा बल्कि ताज का एक पत्थर भी जब तक है वह आपके नाम को रौशन करता रहेगा। आपको अपना वतन छोड़े मुद्दत हो गई। मैं आपसे माफी का ख्वा-हिस्तगार हूँ।' बादशाह ने छोटी तकरीर की। घमंड से सब और खास कर ईसा, जो बादशाह के करीब खास जगह पर बैठे थे, फूल उठे। बादशाह की कद्रदानी ने उनकी लम्बी तकलीफ को भुला दिया।

'मैं आप में से हर एक को इतना रुपया दे रहा हूँ कि जिससे बाकी उम्र आप मजे से बिता सकें पर अफसोस यह है कि आपके हाथ कटाना होंगे जिससे चाह कर भी ऐसी दूसरी इमारत आप न बना सकें और ताज व मैं बेजोड़ इमारत व बनाने वाले की शोहरत से महरूम न रह जावें।'

सब के चेहरों पर स्याही पुत गई। हमारे अहसान का यह बदला। ऐसा एहसान फरामोश निकलेगा यह इसे कौन जानता था। खूब बदला दिया हमारी जाँफिशानी का। सब गुस्से से दाँत पीसने लगे पर किसकी मजाल थी जो खड़ा हो कर दो लफ्ज बोल सके।

नाम पुकारे जाने लगे। जिसका नाम बोला जाता उसे बाईं तरफ खड़े जल्लाद से हाथ कटवाना पड़ते और फिर बादशाह से रुपया ले अपनी जगह आ बैठता वह। यह सिलसिला मुतवातिर जारी रहा। ईसा का दिल भी एक बार तो दहशत से काँप उठा पर उसने हिम्मत इकट्ठी की। सोचा, बादशाह मेरे साथ ऐसा सलूक नहीं कर सकता। मैंने उसके साथ जो नेकी की है वह उसे भूला नहीं है, कभी नहीं भूल सकता। मेरा अहसान उसके कन्धों पर लदा रहेगा। इतना बुरा

आदमी नहीं है वह। नहीं, हरगिज नहीं हो सकता। पर इतने एतकाद के बाद भी जाने क्यों उसका रङ्ग एकदम हलका पड़ गया और पड़ता ही गया। कभी अचानक बादशाह से उसकी नजर मिल जाती तो वह खौफ से सिर झुका लेता। उसे वह निगाह खून से तरबतर मालूम होती थी।

आखिर में सब कारीगर निपट गए और बादशाह ने इरादेभरी निगाह से ईसा की तरफ देखा, बोले 'ईसा तुम माफ करोगे मैं मजबूर हूँ।'

ईसा के हाथों के तोते उड़ गए फिर भी अपने को सँभाल कर बोला—'जैसी हुजूर की मर्जी पर एक बार मैं घूम कर सारे ताज को देख आऊँ। कहीं कोई कमी या नुक्स न रह जाए वर्ना मेरे बाद उसे कोई दुरुस्त न कर सकेगा।'

बादशाह ने बखुशी इजाजत दे दी। ईसा उठ खड़े हुए। सीधे गुम्बज पर जा पहुँचे। हाथ में उनके एक बारीक छेनी थी। गुम्बज के बीचों-बीच रख उसने उसे तीन-चार बार घुमाया और वहाँ एक छेद हो गया। बस वे लौट आए। हाथ कटा और रुपया ले चलते बने।

शाहजहाँ के वक्त से आज तक बेशुमार कारीगर हर देश के आए पर उस छेद को दुरुस्त न कर सके। बरसात की पहली फुहार, आज भी गुम्बद के उस छेद में से, ठीक मुमताज की कब्र के बीचोंबीच टप्-टप् टपक उठती है।

शायर कहते हैं वह बूँद शाहजहाँ का मुमताज की छाती को तर करने वाला आँसू है पर कितने जानते हैं कि वह ईसा के खून का कतरा है।

देवता या मनुष्य

आवेश की परिभाषा कुछ भी हो पर वह साहस को उत्तेजित कर, मन की बताई राह पर व्यक्ति को बढ़ा तो देता है, भय, ममता, लज्जा सब से परे।

उस दिन जब पिताजी से उलझ कर मैं सहसा सीधे स्टेशन पर आ गया तो कौन जानता था वह दिन मेरी मातृभूमि के हेतु अन्तिम दिन होगा।

कुछ ठिठका अवश्य, सोचा किसी मित्र के यहाँ ही डेरा डाल दूँ। ज्यों-त्यों कुछ समय के बाद सब ठीक हो ही जायगा पर अब मेरा विद्रोही मानस यह चाहता ही न था कि समझौते के घिसे मार्ग को फिर दुहराया जाय।

गाड़ी आने में कुछ देर थी इसलिये कुछ सूने में जहाँ कोई आ न सके बैठ कर मैं विचारों में डूब गया। होश सँभालने के दिन से आज तक सब कुछ फिल्म की तरह मेरी पुतलियों में घूम गया। वर्षों से मेरा घर का जीवन बहुत ही उद्भ्रान्त था। खाना-पीना, मिलना-जुलना तो दूर रहा किसी से बात तक नहीं करता था। पाँच वर्ष से मेरा यह हाल देख माँ-बाप, भाई-बहिन सभी संतप्त थे। दूसरों को तो मैं दोषी कहता था, अपराधी स्वयं था। कभी मैंने यह न सोचा कि पिता कुढ़ते क्यों हैं? मेरा सूना कमरा भला कि मैं। किसी को साहस न होता था कि मुझसे आकर दो बातें करे। पढ़ाई पिछड़ ही चुकी थी। स्वास्थ्य आत्म-मंथन में चौपट हुआ जा रहा था। कमाने से दूर ही

था। सब से बड़ा मेरा अपराध यह था कि जब किसी विवाह का प्रस्ताव आता मैं स्पष्ट नाहीं कर देता। एक साल और पढ़ लेता तो डाक्टरी का कोर्स ही पूरा हो जाता परन्तु प्रेम भी कोई दुनियादारी का सौदा है? मेरी आभा मुझसे दूर कर दी गई है और मैं फिर उसी समाज का व घर-गृहस्थी का सेवक बना रहूँ। यह कैसे हो सकता था। प्यार करना भी यदि आतंक है तो घानी के बैल-सा जीवन की गाड़ी को खींचते जाने में कौन बड़प्पन है। मैं आभा की रूप-ज्वाला का पतंग न था, उसके गुण और संस्कारों का मुझ पर जादू-सा असर हुआ था। माना कि वह युवती थी तो इसी भय से मैं दूर भागता रहूँ, इसमें क्या है। वह सजातीय नहीं थी इसी से उसे पा ही न सकूँ यह तो कोई उद्बोधन नहीं। माँ-बाप ने उसकी अवहेलना कर जब से मुझे शून्य बना दिया, वे ही मेरे ओठों पर कब मुस्कराहट की रेखा देख सके? अब इकलौती सन्तान का निरन्तर वियोग उन्हें बता देगा कि प्रिय वस्तु का खो जाना क्या होता है। जब मेरी ही कुटी उजड़ी व अँधेरी पड़ी है तो उनके ममत्व का दीपक भी क्यों जलता रहे? मेरी आँखें प्रतिशोध से चमक उठीं और दूसरे ही क्षण गाड़ी प्लेटफार्म से आ लगी। मैं शिथिल भाव से जा बैठा और ज्यों-ज्यों गाड़ी बढ़ी मेरा मन हल्का होता गया।

पिछली रात जब डब्बे के यात्री खर्राटे ले रहे थे, एक लड़की खिड़की में से बार-बार उचकने लगी। गाड़ी पूरे वेग से चली जा रही थी। अचानक एक मोड़ पर ज्यों-ही उस लड़की के पाँव उचके और वह बाहर जाने को ही थी कि मैंने दौड़ कर उसे थाम लिया। हलचल से सब उठ बैठे। लड़की का बाप मेरे चरण छूने लगा। उसकी पत्नी मर चुकी थी, और कोई घर में था नहीं। विवाह करने का विचार वह छोड़ चुका था। वह लड़की ही उसकी आँखों की रोशनी थी, बोला—'भय्या! तुम कहाँ जा रहे हो?'

'मैं स्वयं नहीं जानता।'

'यह खूब रही।'

'हमेशा के लिए घर छोड़ आया हूँ।'

'मैं कलकत्ता जा रहा हूँ। तब तुम मेरे ही साथ चलो और वहीं रहना। वहाँ मेरा कोयले का रोजगार है। ईश्वर दो रोटियाँ देगा ही।'

'अच्छा यही सही' कह कर मैं राजी हो गया।

: २ :

कलकत्ते के जीवन ने फिर मेरा मन कुछ स्वस्थ कर डाला। घर की रोक-टोक से बच कर मानो मेरा खून बढ़ने लगा पर कुछ काम न होने से समय बिताना दुष्कर हो गया। अन्त में हार कर मैंने मेडिकल के अन्तिम वर्ष में नाम लिखा दिया और अपनी आभा की मुक्त स्मृति के प्रकाश में बिना कुछ खास पढ़े-लिखे भी डाक्टरी पास हो गया।

गरीब कोयले वाले ने यह सुना तो निहाल हो गया। पास ही एक दुकान किराये पर ले दी। फर्नीचर और अन्य सामान के लिये भी उसने पाँच सौ रुपये खर्च कर दिये और मैं डाक्टरी करने लगा।

धीरे-धीरे मैं अनुभव करने लगा कि जीवन को गला-गला कर समाप्त कर देना ही सब कुछ नहीं है। यदि वह किसी विशेष के काम का नहीं रहा है तो सेवा और परोपकार में ही वह उत्साह और आनन्द पा सकता है और मैं मन-प्राण से इस पथ की ओर बढ़ता ही गया।

कर्म की चेतना में मेरे सब आत्मीय विलीन हो चुके थे। चिट्ठी-पत्री तो क्या, मैं कभी किसी को याद तक न करता था परन्तु आभा, उसे विस्मरण कर सकना भी क्या कभी सम्भव था। यद्यपि उसका विवाह कभी का हो चुका था परन्तु मैं जानता था कि न वह सुखी है,

न हो ही सकती है। एक बार उसे जीवन में देख ही पाता तो, परन्तु सभी कुछ मनुष्य के वश में कहाँ!

एक दिन डिस्पेंसरी में बैठा था। रात का सन्नाटा प्रारम्भ हो रहा था कि एक महरी आयी, बोली—'डाक्टर बाबू, बाई की तबियत बिगड़ती जा रही है, चल कर देख लो। घर पर और कोई है नहीं।'

मैंने यथाभ्यास बैग सँभाला और चल दिया। शीघ्र ही एक बड़े मकान के सामने फिटन रुकी और महरी मुझे तीसरे मंजिल के रोगी का कमरा बता कर चाय बनाने चली गई।

रोगणी चादर ओढ़े लेटी रही। मैंने आवाज दी तो लगा सो गई है या झपकी ले रही हो। अन्त में मुझे झकझोर कर ही जगाना पड़ा। देखता क्या हूँ कि वह तो मेरी आभा थी। मेरी आँखें चौंधिया गईं, मन हजारों हाथ उछलने लगा—'हे भगवन्! यह क्या?' और सँभलूँ-सँभलूँ कि वही कह बैठी—

'तुम हो विनोद, बैठ जाओ।'

आभा की स्मृति मेरे जीवन का वह अङ्ग बन चुकी थी कि हर स्वप्न उसकी आकृति को लेकर आता था। प्रत्येक श्वास उसके आह्लाद से सुरभित थी पर इसे स्वप्न मानने का कोई कारण न था। वर्षों बाद उसे देखा था एतदर्थ मैं उसे देखता ही रहा मानो आँखों की राह उसे पी जाऊँगा। कुछ कहूँ न कहूँ कि उसी ने मौन भङ्ग कर दिया—'वह दिन याद करो विनोद, जब मेरे स्नेह-मन्दिर के तुम देवता बने थे। जीवन की किस गहराई और प्राणों की किस तरलता से मैंने तुम्हें चाहा, इसे तुम जान तक न सके! अपनी धड़कनों को मैंने अपनी श्वासों में विलीन किया। कौन-सा पल तुम्हारे ध्यान की बेला न बन आया। वे मिलन-स्वप्न आज भी बिजली से कौंध उठते हैं परन्तु विवाह, धर्म, कर्तव्य और हिन्दू नारी के सर्वस्व पातिव्रत की श्रंखलाओं ने मुझे सिखाया कि मैं तुम्हें भूलूँ पर कौन जानता है, भूल सकी कि नहीं।'

'तुम देवत्व के आकाश में भले विचरो आभा! पर मैं तो साधारण मनुष्य भी न रह सका। सुना था विवाह के बाद तुम मुझसे घृणा करने लगीं। तुमने मुझे भले ही छुट्टी दे दी हो पर मैं अभी जीने तक का बल नहीं समेट पाया। तुम्हें सब कुछ प्राप्त है। तुम आगे की राह ढूँढो पर मेरा तो सर्वस्व ही लुट चुका है। मेरा सर्वनाश ही मुझे भी अभीष्ट है।'

उसकी अटपटी आकृति देख मैंने ही कहना चालू रक्खा—'कई बार फेल हुआ। माता-पिता से दूर छिटकता रहा। विवाह के झगड़ों में घर छोड़ने को बाध्य होना पड़ा और आज यहाँ हूँ। तुम्हारी घृणा भी मेरे मोह को ठंडा न कर सकी। तपस्या कभी निष्फल नहीं जाती। मैं जानता था तुम मिलोगी और अवश्य मिलोगी। मनुष्य की निष्ठुरता का बोझ कितना भी असह्य हो पर स्नेह की कोमलता उससे कहीं आगे है। समाज के स्वनिर्मित बन्धन और व्यक्ति की विवशता कैसी भीषण है, ओह कितनी!'

'जीवन टालमटोल की वस्तु नहीं है, विनोद, तुम तो मनुष्य हो। तुम्हें फौलाद का दिल रखना चाहिये। जो न है, न अपना हो सकता है उसके नाम पर सब कुछ से आँखें मीच लेना आत्महनन है, अज्ञान है। मुझे पाना ही एकमात्र लक्ष्य क्यों और फिर मेरा शरीर, मेरा साहचर्य ही क्यों चाहता है मेरा विनोद। यदि मेरे प्रेम के ज्वलन्त सत्य को निहारते हो तो मेरे संकेत पर मर मिटना सीखो।' रह-रह कर आभा जटिल होती जाती थी।

'इच्छा, आशा से छुटकारा पाना मनुष्य के वश की बात नहीं। हर व्यक्ति देवता नहीं बन सकता। यदि तुम हृदय चीर कर देख सकतीं तो जानतीं कि हर साँस में तुम देवता बन कर पुज रही हो। सारी कोमलता को कुचल मैं उस पर विजय कैसे पाऊँ। मैं मनुष्य हूँ, मनुष्य मात्र रहना है मुझे। क्या वर्षों से बहते हुये मेरे

आँसू भी विकार का ही चिन्ह हैं। मैं तुमसे विवाह करना नहीं चाहता पर तुम्हारे समीप रहना चाहता हूँ। मुझे सेवक बना कर ही तुम अपने समीप रख लो। इससे अधिक मैं कुछ न चाहूँगा। तुम्हारा समाज युवक-युवती को दाम्पत्य के अतिरिक्त साथ रहने का और अवसर ही कौन-सा देता है। बोलो मेरे लिये तुम्हारी क्या आज्ञा है। तुम्हारी बात टाल सकूँ इतनी सामर्थ्य तो कभी संचित न कर पाऊँगा।'

'विनोद! तुम चतुर हो, विद्वान हो। जीवन की अनन्त राहें तुम्हारे सामने खुली पड़ी हैं, तुम पुरुषार्थ करो परन्तु यदि मुझे जीवित देखना चाहो तो मुझे सदा के लिये भूल जाओ।'

और मैं प्रणाम कर चल दिया।

: ३ :

कलकत्ते की कल्पित शान्ति और दिवास्वप्न भी मेरे लिये भीषण हो गये। खाट पर अनमने भाव से पड़ा रहता और सूने में धँसता जाता। धीरे-धीरे बीमार होता गया और कुछ दिन बीते वायु के प्रकोप में मैं न जाने क्या बकता। लगा कि थोड़े दिन में जीवन के धन्धों से सदा के लिये मुक्त हो जाऊँगा। कोयले वाला और उसकी लड़की मेरी देख-रेख करते। वे घर तार देने की बात कहते पर मैं पता तक न बताता था। हालत गिरती गई और मुझे अनुभव हुआ कि अन्तिम समय समीप है, एक बार आभा को देख पाता। इस इच्छा ने मुझमें एक नवीन जीवन का संचार किया और मैंने लिखा—

प्रिय आभा!

अन्तिम समय एक क्षण को तुम्हें और देख पाता। पूर्व प्रेम के नाते ही आना।

मरणासन्न

विनोद।

उस लड़की के हाथ पत्र भेज तो दिया जो महरी को दे आई पर मेरा रोम-रोम काँपने लगा किसी अज्ञात भय से। मैं कितना स्वार्थी हूँ। मुझे उसके हिताहित का विचार तो रखना था। भारतीय नारी की स्थिति कितनी विपन्न है?

तीसरे दिन प्रातः चार बजे कोई साँकल बजाने लगा। मैंने लड़की को जगा द्वार खुलवाया, देखा आभा थी। मैं 'धक' रह गया।

पागलों-सी भरभरा कर वह मेरे चरणों पर लोट गई, बोली—'विनोद, मैं तुम्हें मरने न दूँगी। अपने ऊपर इतना निर्मम अभिशाप न लूँगी। तुम्हारे उत्सर्गशील प्रेम ने मेरी आँखें खोल दी हैं। मेरी याद में घुल-घुल कर तुमने जीवन के सबसे महत्वपूर्ण भाग को व्यर्थ ही नहीं किया, भार बना डाला। तुम मुझे जी-जान से चाहते हो न, तो लो जहाँ चाहे चलो। अब श्वास-श्वास साथ-साथ रहेंगे।'

मन ऐसा कुंठित हो रहा था कि उसे ठोकर मार कर कहूँ कि अब तुम्हारा नारीत्व और देवत्व कहाँ है? मनुष्य के दोष और वासना को अब क्या वह भूल गई। अवश्य ही पत्र इसके पति के हाथ में पड़ गया होगा और उसने इसको घर से निकाल दिया होगा। पर सबके बाद भी मेरी भावुकता मुझे दबोचती गई। मैं आगे बढ़ा और हाथ पकड़ चल दिया। मील, दो मील चुपचाप चलते जाने पर वह सहसा मूर्च्छित हो गई। कहती थी 'मेरे देवता, मुझे क्षमा कर दो। मैं निरपराध हूँ।'

और मैं हक्का-बक्का खड़ा था।

रज्जो

जून की कड़कड़ाती गरमी, लम्बे-लम्बे पहाड़ से दिन, मदरसों की छुट्टियाँ खतम होने आईं और अपने राम इस बार काहिली में ही गोते लगा रहे थे। एक दिन शाम को यकायक तबियत जो आई तो न तो कुछ सामान ही साथ लिया और न घर पर खबर ही की और उदयपुर का टिकिट ले रेल में जा बैठे!

और जिन्दगी समझदारों के लिए कितनी भयानक 'मोनोटनी' है इसे कौन नहीं जानता, एकदम मशीन की तरह, खाना-पहिनना, गप्पें, चहलकदमी और एक दिन बिदा हो जाना।

रेल उड़ी जा रही थी। इधर-उधर कुछ बूँदा-बूँदी भी शुरू हो गई थी पर दिल जरा बेचैन था, दार्शनिक बना अपने में डूबता-उतराता सा बैठा रहा। कई स्टेशन आये-गये, हलचल हुई पर पक्के विदग्ध जो ठहरे, सिर तक खिड़की से बाहर नहीं निकाला मगर सफर लम्बा था और दिल्लगी देखिए उदयपुर में भी न कोई जान थी न पहचान। टिकिट ले ही तो बैठे, इसी का नाम रोमांस है क्या?

अचानक कोई जंकशन आया। अपने पर भारी झुंझलाहट लिए मैं कूद पड़ा। शानदार था स्टेशन, बिजली की चमचमाहट, यात्रियों का जमघट, जरा दिलचस्पी से बढ़ा कि सिगार और पेपर ले लूँ पर यह क्या, प्रमोद! नहीं कहाँ वह पतला-दुबला अस्थिपिंजर, कहाँ यह सूटेड-बूटेड गबदू मोटा भरकम जवान पर मैंने जिन्दगी में

कभी किसी को पहचानने में तो भूल की न थी, सोचूँ ख्याल करूँ कि वही हाथ मिला बैठा।

'ओ हो रमेश! भूल गए क्या भाई, बारह बरस युग के युग, आदमी कैसा बेबस है, हाँ तो तुम अच्छे तो हो न?'

'वल्लाह यार! कुछ पूछो मत। जिन्दगी तो उत्तम-मध्यम खिंच ही रही है पर तुम खूब मिले।'

'छोड़ो ये बातें, सामान कहाँ है, लाओ उठा लूँ, बातों के लिए तो घर है और सुनोगे तुम्हारी भावज बड़ी ही खूबसूरत और लजीज हैं, एक दम सुरखाब का पर, देख कर तबियत बाग-बाग हो उठेगी। मैं खूब जानता था प्रमोद उन आदमियों में नहीं जो सीधे-सीधे छोड़ देते हैं, बस चल ही दिया। घर में कदम पड़ा कि जनाब आड़ में पहुँच लगे नसीहत देने 'तुम जानती हो, मेरा एक बहुत अजीज दोस्त आज मिला है। देखो इसके आगे परदे-वरदे का ढोंग न फैलाना वर्ना उल्टे पाँवों भाग खड़ा होगा। कसम तुम्हारी।' मैं कुछ कहूँ-कहूँ कि वह दर्वाजा ठेल कर बाहर खड़ा हो गया। पसोपेश के दो-एक मिनिट भी न गुजरे होंगे कि कुछ सकुचाया-सा और लज्जा-भार से शिथिल एक नारी-हृदय मेरे सामने था। यों ही मैं कुछ संकोची प्रकृति का व्यक्ति हूँ, मुझसे वह उद्दण्डता कोसों दूर है जहाँ मनुष्य छलाँगें मारा करता है पर कुछ उत्सुकता और कुछ नारी जाति के प्रति श्रद्धा लिए एक विहंगम दृष्टि आँखों में उठे-उठे कि एकदम टकरा कर आश्चर्यप्रतिहत हो मैं चीख उठा—

'रज्जो तुम······!'

और मुझे उत्तर मिला बिखरी हुई हिलकियों में जिनका बाँध टूट पड़ा हो। एक तीव्र एँठन, गरम-गरम आँसू और बस।

और हम तीनों ने बेतकल्लुफी से नाश्ता किया। भला मुझे रात भर नींद कैसे पड़ती? एक कुतूहल और एक जिज्ञासा रह-रह कर

मुझे थपथपाते रहे और वे आँसू के कतरे, जीवन की सम्पूर्ण वेदना के प्रतिरूप प्रश्नचिन्ह से मेरी धमनियों में धँसे अङ्गारों का ज्वालामुखी निर्माण करते रहे।

लम्बी-चौड़ी गुफ्तगू के बाद प्रमोद ग्यारह बजते-बजते ऑफिस चल दिया और तब अकेलेपन ने मेरी भावनाओं के धागे ले शब्द-जाल गूँथने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया फिर भी एक दुबकी-चुपकी स्वभावगत झिझक आ जमी। सैकड़ों बार शब्द ओठों तक आए पर वहीं उलझ कर रह गए। मैंने देखा प्रमोद की पत्नी ने न भोजन किया, न पानी पिया, दो बज गए। एक कमरे में पड़ी रहीं। अचानक मेरे पास आ खड़ी हुईं।

'पानी तो न पियेंगे आप ?'

'आप···! हाँ रज्जो एक बात पूछूँ। सच कहना। तुम इतनी दुखी क्यों हो ?'

'·············!'

'बोलो, बोलो !'

'·············'

'तुम्हें मेरे······!'

और वह बुरी तरह फूट पड़ी मानो बाँध टूट गया हो। मुक्त बन्दी की तरह उसके आँसू भरभरा कर उमड़ पड़े। मुझे ऐसा लगा मानो बरसों से उसे अपनी वेदना को हलका कर लेने के लिए, स्वच्छन्द रूप से रो लेने तक का अवसर न दिया गया हो।

मैं कह ही तो उठा 'आखिर यह सब क्यों, तितली की तरह फुदकने वाली रज्जो तुम्हें क्या हो गया, यह बेबसी क्यों ?'

'नारी का जीवन ही इसलिए है रमेश !' किसी संतप्त हृदय ने अनजाने ही में मेरे समक्ष जीवन का एक नग्न सत्य उँडेल दिया।

और फिर मुझसे जरा न ठहरा गया। प्रमोद से मिल, उसे इधर-उधर समझा-बुझा चल ही तो दिया, हृदय में एक विद्रोह लिए हुए, प्राणों में एक तूफान समेटे, कुछ बोझिल एवं स्तब्ध सा।

और क्या नारी का जीवन घुल-घुल कर, आँसुओं के दरिआ में बिला जाने भर के लिए है? नारी, जीवन और जगत की आदि शक्ति, जो मनुष्य को उसके बचपन से अन्तिम श्वास तक अपने त्याग, समर्पण और आत्म-बलिदान से हरा-भरा बनाए रहती है, जिसने अपनी सेवा के बदले कभी कुछ न चाहा, जिसने नतमस्तक हो सहा और केवल सहती रही, जो तिल-तिल कर मिटती रही पर चूँ तक न की। अपने को खाक में मिला देने का उदाहरण कोई हिन्दू नारी से सीखे, बुझी लौ पर मर मिटना हर एक का काम नहीं है, वह स्वयं को नेस्तनाबूद कर देती है पर कभी शिकवा नहीं करती। उसकी साँस-साँस में वेदना घुली है पर उसकी आकृति खिली ही मिलेगी। दिल में दर्द का आसमान उठाए हुए, वाह्य में भूली-भूली सी, प्रमुदित सी रह कर, वह आजीवन अपने पर कितना नियंत्रण रखती है, इस पर किसी ने कभी विचार किया है? ओह नारी हृदय! तेरा रहस्य, तेरी पीड़ा, तेरी सहिष्णुता तू ही भले समझ सके, हम तो उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते।

मेरा मर्मस्थल खलबला उठा। नारी का हृदय ही इसलिए है? जो सहे उसे केवल दुख ही दुख मिले। यह ईश्वर ····· मेरी आत्मा में आज पहिली बार अनास्था के भाव सिलमिला उठे। नारी एक पहेली अनबूझ, बुद्धि और ज्ञान से बहुत परे!

और स्मृतिमंडल का धुंधलापन साफ होता जा रहा है। रेल की फक्-फक् के बीच में गोते लगाता जा रहा था। रज्जो ····· रज्जो ······हाँ, चार-पाँच साल भागते चले गए। यह मेरे एक दोस्त, बहुत ही नजदीक पर परिस्थितियों की घुमड़, उनकी सगाई, शादी, गोना लगातार हुए पर कभी उनकी ससुराल न जा सका। हजार

मिन्नतें की उनने पर यहाँ टस से मस न हुए। एक बार बिगड़ खड़े हुए, इस बार चलना ही होगा। चले साहब। रेल, मोटरों को लाँघते हुए आखिर एक छोटे से मकान में पहुँच बैठक में इत्मीनान से आ जमे। थोड़ी देर में आवाज हुई, 'अरी ओ रज्जो! जरा उन्हें शरबत तो दे आ' और कुछ क्षण बाद एक लजीली कन्या, नीची आँखें किए, शिथिल-शिथिल सी, अवस्था यही पन्द्रह-सोलह जैसे यौवन की आँधी उसे झकझोरने को तत्पर खड़ी हो, पीली जरा मैली सी धोती, चेहरे पर तनिक गंभीरता लिए बोली 'लीजिए!' मैंने कहा 'आप मुझसे कह रही हैं' और एक नजर देख कर ग्लास ले लिया। पानी की सतह पर कुछ गर्दा-सा जमा था पर न जाने क्यों पी गया।

और जब चाँदनी पर खाना खाने बैठे तो ज्यों ही वह परसने आई मित्र के ससुरजी मेरी ओर मुखातिब हो कर बोले—'रज्जो, यह इसी साल पहिली श्रेणी में मिडिल पास हुई है।' और वह बुरी तरह झिझक कर, पल्ला झाड़ मुझे बिना कुछ दिए भाग खड़ी हुई, कहती गई 'हुँ मैं नहीं हुई' और जब दो-एक दिन बाद रुखसत हुए तो भरी-भरी आँखें लिए कोई गुप-चुप पीछे खड़ा अपने मनोभावों को छिपाने का यत्न कर रहा था। मेरे मित्र की पत्नी वहाँ न थीं, चार-छः स्टेशन आगे उनके चाचा के यहाँ थीं, वहाँ जाना पड़ा। दो-चार दिन बाद जब लौटे तो स्टेशन पर मित्र के ससुर के साथ वह भी दुबकी-दुबकी किसी को आतुर नयनों से खोज रही थी और ज्यों ही गाड़ी चलने लगी थी तो किसी के मूक नयनों से एक बूँद आतुरतापूर्वक ढुलक गई थी और मैं भारी-भारी जी लिए पड़ रहा था डिब्बे में!

और वही रज्जो यह यों ·····!

मानो कह रही थी, तुम्हीं हो कारण मेरी इस जिंदगी की बरबादी के!

'नारी का जीवन ही इसलिए है रमेश!'

प्रोफेसर की पत्नी

रानी ने यह सब देखा तो 'धक' रह गई। आज तीसरी रात्रि थी उसे इस घर में आए। मुश्किल से डेढ़-दो बजे होंगे। उसने अनुभव किया कि प्रोफेसर वर्मा को पल भर भी नींद नहीं आई है, इधर-उधर करवटें बदल रहे हैं, खोए-खोए से एकदम स्तब्ध और शून्य। गोरी-गोरी पतली-पतली बाहें, भोला किन्तु शिक्षा से जरा गम्भीर चहरा, बड़ी-बड़ी उत्सुक आँखें, पाँवों तक लहराती हुई चोटी, यही तो है रानी। अपनी छरहरी देह की प्रतिकृति बार-बार आइने में देखना और घंटे-घंटे पर तितलियों सी बहुरंगी साड़ियाँ पहिनना यही उसका काम है। उसकी अवस्था ही क्या है, यही सोलह-सत्रह। इसी वर्ष देहली कालेज से बी० ए० में सर्वप्रथम आई है। वहाँ के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर हरिहरनाथ की एकमात्र कन्या। कलकत्ता यूनि-वर्सिटी के गंभीर विद्वान एवं भावुक कवि प्रोफेसर वर्मा के साथ स्नेह-सूत्र में बँध गई है और तीन दिन हुये गौना भी हो गया है उसका। प्रोफेसर की दिनचर्या देख मर्माहत रह गई है वह। ओफ वर्षों से उसके हृदय में उठने वाला तूफान, बुलबुले की भाँति इतनी जल्दी कहाँ खो गया है। उसकी ढेरभरी कल्पनाएँ, अगणित साधें, वे रंगीन सपने, कौमार्य की भोली-भाली भावनाएँ इस प्रोफेसर पर रुक कर किस निष्ठुरता से चकनाचूर हो गई हैं, इसे उसका हृदय समझ कर भी नहीं समझ पा रहा है, जरा भर भी।

विवाह, पति, सुख और साहचर्य क्या सब कुछ यही है। उस

पर मानो पहाड़ टूट पड़ा है एकदम अप्रत्याशित। पल-पल इसका जीवन विषैले जन्तु की भाँति उसे झकझोरने लगा। हजार यत्न करने पर भी स्वामी के हित और अपने सुख का कोई मार्ग दिखता न था उसे। कभी भय से काँप उठती, कभी सन्ताप से उत्पन्न हुई सिसकियाँ छिपाने का यत्न करती, कभी उत्साह समेट कर आगे बढ़ती थी पर बिद्ध कपोती सी ठिठक कर रह जाती। क्या करे, क्या न करे, वह अकेली, दुखदग्ध, गति-मति से सर्वथा शून्य !

: २ :

और वह निश्चेष्ट हो पड़ी रही। लेने लगी खर्राटे मानो प्रगाढ़ निद्रा में हो और कुछ ही समय पश्चात् सहसा उसने अनुभव किया कि प्रोफेसर वर्मा उसे झकझोर रहे हैं और तब 'ऊ' करती हुई हाथ-पाँव अस्तव्यस्त दिशा में फेंक, दूसरी करवट लेट रही वह। तब निश्चिन्त से हो प्रोफेसर उठ बैठे। पैड उठा ली और लिखने बैठ गये। दो-चार सतरें लिखीं और लगाने लगे गोते किसी गहरी विचार-धारा में। अन्यमनस्क मुखमुद्रा पर चिन्ता, भय, सन्ताप और कातरता की रेखाएँ भी प्रतिभासित हो रही थीं। लिखते-लिखते भरभरा कर आँसू उमड़ पड़े और प्रोफेसर हिचकियाँ भर कर रोने लगे। कागज तरबतर हो गया। तीन का घण्टा बजा और एकाएक सजग से हो आँसुओं को पोंछ फिर वे लिखने में लग गये।

रानी के लिये तो संयम की यह एक विकट परीक्षा जो थी। मचल ही उठा एक बार तो सहसा उसका नन्हा-नन्हा, कोमल-कोमल जी कि ठोड़ी ऊँची कर आँखों में आँखें डाल जरा पूछ ही क्यों न ले कि 'आखिर तुम इतने दुखी हो क्यों ? प्राण देकर भी यदि मैं तुम्हें सुखी बना सकी तो हँसते-हँसते न्योछावर हो जाऊँगी और कितना मधुर सौभाग्य होगा मेरा। पर समझ जो गई वह कि जो कुछ जान

रही है उससे वञ्चित भले रह जावे, अधिक कुछ उसके किये हो सकेगा नहीं।

रँगे जाने लगे पन्ने पर पन्ने और कोई शब्द धुँधले भी हो ही गये, रह-रह कर बरस पड़ने वाली आँसुओं की बूँदों से। प्रोफेसर उठे, पहुँचे हेंगर के पास, हाथ डाला कोट की जेब में, निकाला मनीबेग और उसके एक खाने में ढकी हुई छोटी-सी तस्वीर। और आज वह समझी कि उसे मनीबेग देने में क्यों झिझकते थे वे। देखते रहे, देखते रहे निरन्तर वह तस्वीर और फिर फूट-फूट कर रो पड़े फिर ज्यों-त्यों कुछ लिखा और बस।

रानी पहेली को जितना सुलझाने गई थी, उससे अधिक उलझ गई स्वयं ही। नारी सुलभ औत्सुक्य उसमें झनझैना उठा। रोम-रोम, श्वासोच्छ्वास प्रश्नचिन्ह से उससे पूछ बैठे कि इस पत्र में क्या लिखा हो सकता है और वह तस्वीर, फिर भी, किस की?

पर उसने अपने पर नियन्त्रण किया। डर जो था उसे कि कहीं बिगड़ न जाय बना बनाया खेल। वे शौच-स्नान को उठ कर गये और वह देख सकती थी दोनों ही वस्तुएँ पर स्वामी जिन्हें उससे दूर रखना चाहते थे उन्हीं वस्तुओं पर बलात् दृष्टि फेंक उनके विश्वास को वह कैसे ठेस पहुँचाये और फिर जाने कितना भीषण परिणाम निकले उसकी इस भूल का, जाने कितना!

: ३ :

यों रानी को कमी ही किस बात की है। पंद्रह सौ प्रति मास मिलते हैं इस प्रोफेसर को। शानदार बँगला, चार-चार मोटरें, दर्जनों गहने-कपड़ों के सन्दूक, कई तरह के रेडियो सेट, हर कार्य के लिये अलग-अलग नौकर, क्या नहीं है उसके पास। वह हजार रुपये पल भर में किसी को दे-दे तो कोई पूछने वाला नहीं। पचास रुपये चाय-पानी में उड़ जावें तो कोई लेखा-जोखा नहीं। ऐसी भाग्यवान है यह। पर उसमें की नारी अपने ही से पूछ उठी कि क्या सुखी है वह?

डूबते-उतराते अन्त में उसने निश्चय किया कि जैसे भी हो वह आज पूछेगी अवश्य ! और संध्या की झिलमिलाती बेला में, स्वामी के चरणों को अपने सौभाग्य-सिन्दूर से सहलाती हुई वह सहसा कह उठी—

'क्या आप मुझसे अप्रसन्न हैं ?'

'नहीं, नहीं, रानी ! भला तुम्हें पा कर कौन व्यक्ति अपना भाग्य न सराहेगा 'अपने हाथों से उसे उठाते हुये वे बोले ।

'पर मैं देखती हूँ ······!'

'वह सब कुछ नहीं, बात यह है कि······!'

'लेकिन ···· !'

'पर मेरा वश ही क्या है रानी !' और उसने देखा वे विवर्ण हो उठे थे ।

'मैं जानती हूँ आप दुखी हैं पर क्या मैं आपके पथ में बाधा मात्र ही हूँ ?'

'नहीं, नहीं, ऐसा न कहो । दुख को तो मैंने स्वयं अपने प्राणों में धँसा लिया है । वह तो मेरे लिये अमृत बन गया है । मैं राह ही ऐसी चला हूँ पर तुम । तुम तो क्या किसी से मैं कभी असंतुष्ट रहा ही नहीं क्योंकि मुझे किसी से कुछ अपेक्षा ही नहीं है' उसके दोनों हाथ अपने हाथों में लेते हुये वे बोले ।

'और यहीं तो मैं रुक गई हूँ कि आखिर यह क्यों ? मैं आपकी पत्नी हूँ, सहचरी हूँ, एक सेविका और आपको मेरी किसी सेवा की अपेक्षा नहीं । यह क्या मेरा दुर्भाग्य नहीं । कहिये न ?'

तुम्हारी किसी भी सेवा से मुझे आनन्द तो होता है, मैं लहलहा उठता हूँ एक बार परन्तु मेरा मन वह स्वयं मेरे वश में नहीं है । मैं करूँ भी क्या रानी ?'

'यही तो मेरा प्रश्न है कि कौन है वह सौभाग्यशालिनी जो आपके मन के हाथों बिक चुकी है। मुझसे भयभीत न होइये। अगर मैं आपकी पत्नी हूँ तो आपके प्राणों के मूल्य पर भी उसे आपसे मिला कर रहूँगी। क्या मैं नहीं जानती कि प्रेम होता है, किया नहीं जाता। यत्न तो व्यर्थ ही है वहाँ!'

'प्रेम नहीं, पूजा रानी!'

'हाँ, पूजा मेरे देवता! कहाँ है वह मन्दिर, कौनसी है वह राह जो वहाँ तक पहुँचा दे, बोलो, बोलो।'

'तुम मेरे साथ न आओ रानी! अभी तुमने संसार में देखा ही क्या है। बड़ी विकट राह है। हर व्यक्ति उस पर नहीं जा सकता।'

'पर! पर!!'

और वह सिसक-सिसक कर रो पड़ी अपनी असमर्थता पर, विवशता और अटल भाग्यहीनता पर।

: ४ :

प्रातःकाल होते ही देखा उसने कि वे मुस्करा रहे हैं। बेमौसम के फूलों को देख जैसे भय जग उठता है, उसी प्रकार रानी किसी अज्ञात आशंका से सिहर उठी।

'देखो रानी! रात की गाड़ी से हम देहली चलेंगे तुम्हारे घर। कितने दिन हो गए सुषमा को नहीं देखा।'

'अभी क्या जल्दी है। छुट्टी में देखा जावेगा। फिर शाम तक तय्यारी हो भी कैसे सकती है' वह उठ बैठी।

'नहीं आज चलना ही है, ट्रंक-बिस्तर में तय्यारी कैसी?'

और ज्यों-ही वे बाहर गये, देवी-देवता मना डाले उसने। जाने क्या होने को है, ऐसा लगा उसे। नौकर से अपने घर एक तार भिजवा कर वह कुछ आश्वस्त हुई और भोजन में जुट गई कि तय्यारी भी करनी ही है।

मेल ने ज्यों-ही हवड़ा का प्लेटफार्म छोड़ा कि प्रोफेसर अस्वाभाविक रूप से प्रसन्न दिखाई पड़े। नींद का बहाना कर लेट गये पर पलकें गुप-चुप खोल, बार-बार देखते रहे कि रानी कब सोती है।

बारह बजे के बाद रानी प्रोफेसर की गोद में सो गई। शनैः शनैः डूबी प्रगाढ़ निद्रा में कि प्रोफेसर ने उसका सिर धीरे से रख दिया नीचे। खिड़की से घुसती हुई चन्द्रकिरण रानी के कपोल पर नाच रही थी। कैसा भोला, मादक साथ ही करुण सौन्दर्य लगा प्रोफेसर को। एक दृष्टि डाली और बस।

किसी चीज के गिरने की भयंकर आवाज़ हुई और जोर से चीख उठी रानी। देखा कि स्वामी डब्बे में नहीं हैं और दरवाजा खुला पड़ा है।

रधिया

खेतों में पानी दे रधिया दम ले रही थी, थकी-सी और कुछ ऊबी-ऊबी। कैसा यन्त्र-सा जीवन है। दिन भर हाड़ तोड़ कर महनत करो, एड़ी-चोटी का पसीना एक करो और तिस पर भी रूखा-सूखा भोजन और फटे वस्त्र। सारी जिन्दगी यों ही तरसते हुए बीत गई पर कभी सुख न मिला। सोचती है वह, यही ईश्वर का न्याय है। और लोगों को देखती है तो छाती थाम लेती है, धन-दौलत, मकान-दूकान, बैंक-सूद और यहाँ पेट के भी लाले। दरिद्रता अविवेक की जन्मदात्री है, निरन्तर का अभाव मनुष्य को निरुत्साहित कर देता है, और रधिया भी खीझी हुई है, अपनी परिस्थिति पर बहुत अधिक, काबू से बाहर।

इतने ही में उसने द्वार पर देखा कि एक यात्री दो-चार गाँव के बालकों के साथ आ रहा है और यह क्या, वह तो यहीं आ रहा है।

'रामप्रसादजी का मकान यही है क्या?' वह बोला और उसने निरुत्तर हो मुँह पर पल्ला खींच लिया। 'मेरी बहिन रधिया कहाँ गई है?' कौतूहल था इन शब्दों में। घूँघट दूर फेंक छाती से चिपट घण्टों रोई वह। 'अपनी बहिन को भी भूल गये। अच्छी रही यह। बीस बरस हो गए। तुम्हें काहे को मेरी याद आती होगी। समझते होगे, मर गई होगी अब तक तो' और रधिया की छाती आँसुओं से तर हो गई।

उसने सुना कि इतने दिनों में संसार बहुत बदल गया है। दो छोटे भाइयों के भूकम्प में मर जाने के कारण माँ रो-रो कर अन्धी हो गई और पीड़ा से पागल हो जाने के कारण जाने कहाँ निकल गई। कुछ पता ही न चला उसका।

अँधेरा होते देख वह चौके में जुट गई पर अपने भाई रघुनाथ से बातें करने का मोह संवरण न कर सकी।

'तो भय्या तुम इतने दिन रहे कहाँ ?'

'रधिया री ! धन कमाने गया था न शहर में।'

'बम्बई !'

'हाँ !'

'वहाँ कहाँ नौकरी थी रघु ?'

'कारखाने का बड़ा साहब हो गया था। इंजीनियरिङ्ग पढ़ना व्यर्थ न गया। तीन सौ मिलते थे।'

'ओ भय्या तीन सौ ! ओ कितने ज्यादा। तो भय्या अब तो तुम्हारे पास बहुत रुपया होगा !'

'यही एक लाख !'

'ओ हो, वाह मेरा भय्या। गाँव के जमींदार के पास चौथाई नहीं। तुमने गजब करा रघु। भगवान छप्पर फाड़ कर देते हैं। भौजाई को नहीं लाये।'

'जब से वह गई, बिवाह ही नहीं किया री।'

'पर भय्या ! समय बड़ा खराब है। घर लुट रहे हैं। बैंक का दिवाला कभी भी निकल सकता है, फिर तुम धन रखते कहाँ हो ?'

'साथ, हमेशा अपने पास ही, इस ट्रंक में' और वह सोना-चाँदी देख कर चकित रह गई। उसकी आँखों में बिजलियाँ हँसने लगीं। इतने धन को उसने स्वप्न में भी न देखा था। गाँव में पली, गाँव में ब्याही, निर्धन रधिया।

कुछ देर पहिले भोजन-वस्त्र में उलझ रही थी वह और अब एक लाख रुपया। उसकी छाती फूल गई और उसने आँखें मीच कर एक शान्ति की साँस ली!

आज रधिया आधी रात तक करवटें बदलती रही पर नींद उसे न छू सकी। रह-रह कर रघु का धन उसकी आँखों में चमकने लगा। कितना धन है, ओह कितना! और वह पुलक के उफान को सहने में असमर्थ-सी सहसा चौंक पड़ती। धन मिलना कितने सुख और सौभाग्य की बात है। पैसा हो तो आदमी पानी में महल बनवा ले। पैसे से राज्य खरीद लो, गाँव के मालिक बन जाओ। सब तुम्हारे आगे झुकते रहें। धन ही जीवन का सार है। धर्म-पूजन, लोक-परलोक सब धन से ही सिद्ध होता है। चौमंजिला मकान, नई-नई डिजाइन के गहने-कपड़े, रेडियो-मोटर, नौकर-चाकर धन से क्या नहीं मिलता और जैसे बच्चे का मन रस-भरी गुलाब-जामुन को देख कर बुरी तरह मचल उठता है, उसी प्रकार रधिया का जी रह-रह हड़-बड़ाने लगा। यह सब धन हमें इस गाँव का जमीदार बना सकता है। अन्त समय ही सही। एक लहर, एक रंगीन सपना सा खिल उठा और उसे लगा मानो उसका सुप्त तारुण्य पुनर्जन्म की भिक्षा माँग रहा हो। कभी एकाएक वह हँस पड़ती, कभी गंभीर हो सोचने लगती, कभी आवेश में उठ कर बैठ जाती। इतना डांवाडोल हृदय उसका जीवन में कभी हुआ ही न था। त्रैलोक्य का वैभव उसकी पलकों में अठखेलियाँ खेलने लगा और उसने अनुभव किया मानो वह जन्म से धनवान है और आज एक निर्धनता का स्वप्न देख कर उठी हो और अँगड़ाई ले रही हो। उसे क्षण-क्षण पहाड़ लगने लगा। बुद्धि आकाश-पाताल मथने लगी कि इस धन को मैं कैसे हथियाऊँ और वह इसी विचार में डूब गई।

सहसा उसकी आत्मा में ध्वनि उठी। आगे-पीछे रघु का कौन

है, संभव है वह धन उसे ही दे। निश्चय होने लगा देगा ही। सारा धन दे भी दे तो अपने दिन कैसे काटेगा। साधु-सन्यासी होना चाहता हो तो क्या पता। पर इतना अहसान कौन उठावेगा। फिर कभी आकर कुछ माँग बैठे तो व्यर्थ का झंझट। कुछ कम ही दे तो फिर। घर आई लक्ष्मी लौटाना कितना बुरा काम है। आज यह मेरे आधीन है, कल मैं इसके आधीन हो जाऊँगी। यों यह मेरा भाई है पर इस संसार में कौन किसका है। इसकी ही बात देखो, बीस बरस में कभी दो हरफ की चिट्ठी तक न डाली फिर मैं ही वृथा भावुक क्यों बनूँ। दो दिन की जिंदगी है, जिस तरह भी हो हँस-खेल कर चैन से बिताना, यही तो आवश्यक है। शेष थोथा रामरोला है। और बिचारा रघु, कैसा अभागा है वह, खाया न खेला, दिया न बिलसा। यों ही किसी दिन दम तोड़ देगा, सब सरकार में जमा हो जावेगा। इसी से कहते हैं कि धन का सच्चा स्वामी वह है जो उसे खर्च करता है, वह कदापि नहीं जो जोड़-जोड़ कर यों ही छोड़ जाता है। सारे जीवन में एक सुयोग हाथ आया है। इसे कैसे भी छोड़ना नहीं है। इस निश्चय की परछाईं रधिया की आँखों में झलकने लगी और वह निश्चिन्त हो सो गई, एक आशा, उत्साह और विश्वास को पलकों में समेटे हुए।

स्वप्न में क्या देखती है कि रघु का देहान्त हो गया है। सारे धन की स्वामिनी हो वह मानो एक छत्र राज्य-सा करने लगी और सुबह उठ उसे लगा कि वह अत्यन्त सरलतापूर्वक हो कर रहेगा।

इस दिन गाँव में रामलीला की बड़ी धूम थी। बहुत प्रसिद्ध मंडली कई वर्षों बाद आई थी। ग्रामीण लोग वैसे ही भक्ति-भाव में

डूबे रहते हैं। दिन भर इस शान से तय्यारियाँ हुईं कि जमींदार के कुँवर का विवाह विस्मृत हो गया। भरत-मिलाप की लीला थी। जनता कल्पना से ही उत्सुक थी। किसी का कहीं जी ही नहीं लगता था। ज्यों-त्यों कर आठ-नौ बजे और गाँव भर मैदान में जमा हो गया। लीला ऐसी करुण करते थे कि गाँव भर के आँसू टप-टप गिरते थे! ऐसा लगता था मानो लीला प्रत्यक्ष हो रही हो। स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे सभी चल दिये और दस बजते-बजते मंगलाचरण प्रारम्भ हो गया।

गाँव भर में रधिया ही थी जो हरि-चर्चा में सम्मिलित न हो घर ही में अपनी मटर अलग ही भुँजा रही थी। उसे प्रातःकाल से ही ज्ञात था कि उसके पति और पुत्र निश्चित रूप से लीला में जा रहे हैं पर रघु भी जायगा या नहीं यह उसे मालूम न था।

ग्यारह बजते-बजते भोजनादि से निवृत्त हो वह अपने सोने के कमरे में आई। देखा बैठक में घना अन्धकार छाया है। उसने सोचा कोई घुस न आवे इससे द्वार बन्द कर दूँ। आगे बढ़ कर क्या देखती है कि रघु अपनी खाट पर नीला दुशाला ओढ़े सो रहा है। वह चकित सी दबे पाँवों लौट आई।

सोचने लगी वह, यही नीला दुशाला, यही खटिया। रघु रोज इसी तरह तो सोता है। कितना सुन्दर अवसर मिला है उसे। ईश्वर ने उसे आगे बढ़ कर मानो यह सुयोग दिया हो। जरा सा कष्ट है और सब कुछ ठीक। सारी जिन्दगी मौज मजा।

वह पिछले कमरे में गई और धार किया हुआ अपने पति का गँड़ासा ले आई। पूर्ण निश्चिन्तता के लिए उसे कबेलू का टुकड़ा ले और माँजा और उसकी ओर आनन्दयुक्त स्तब्ध दृष्टि से देखने लगी।

स्वार्थ और तृष्णा कैसी पैशाचिक वस्तुएँ हैं। ये मानव को अन्धा बना देती हैं। पाप-पुण्य को वह ढकोसला समझने लगता है और ईश्वर को अपनी इच्छाओं का कल्पित साथी। किस बहिन ने आज तक अपने माँ-जाए बन्धु के लिए यह जघन्य कर्म किया होगा पर लोलुपता किस से कब क्या नहीं करा लेती ?

वह उद्यत-सी देहली पर आई कि सहसा भाई को करवट लेते देखा पर वह मुँह ढाँक कर सो रहा था इससे ठीक न देख सकी, किंचित सहमी और उसने अपने मन में किसी को कहते सुना कि तू यह क्या करने जा रही है, ऐसा न कर, यह घोर पाप है और इसका परिणाम अच्छा नहीं है। पल भर को उसका रोम-रोम काँप उठा और वह घायल सी हो बिस्तर पर पड़ रही, डूबती-उतराती सी। घण्टे-आध घण्टे उलझी रही आत्म-द्वन्द्व में, विभिन्न तानों-बानों में और फिर कहीं पीछे न हट जावे इस आवेश में जल्दी-जल्दी चली।

समीपस्थ घण्टे ने 'टन' कर एक बजाया।

और उसने सोचा कि कहीं रामलीला समाप्त हो गई तो! दूसरे क्षण ही, दोनों हाथों से पूरी शक्ति लगा कर गँड़ासे का भीषण वार किया उसने गर्दन पर!

पल भर में एक करुण चीख उस निबिड़ अन्धकार में सिहिर उठी।

पूरा मिनट भी न बीता था कि दरवाजे पर साँकल बजी।

रधिया पर जैसे बिजली गिर पड़ी। कुछ निश्चित न कर सकी कि क्या करे। कटे वृक्ष-सी डगमगाती आगे बढ़ी पर यह क्या!

कुण्डी खुलते ही रघु ने पूछा—'बहिन! तुम अब तक जग रही हो?'

पति महाशय बोले—'और यहाँ अँधेरा क्यों कर रक्खा है ?'

और वह ·· !

रघु ने बहनोई के साथ दुशाला हटा कर देखा तो धक हो गया उसका कलेजा। उसके भानजे की लाश पड़ी थी और सामने पड़ा था वही घर में का गँड़ासा।

कहानी नहीं है यह, रधिया और रघु आज भी जीवित हैं। रधिया बूढ़ी हो गई है। रात-दिन परोपकार, दीन जनों की सेवा और ईश्वर-भजन में बिताती है और रघु तो उसी दिन सारा धन अपंग सेवाश्रम को दे सन्यासी हो गया। तब से उसे किसी ने न देखा।

वह स्मृति

प्रकृति का क्रम यथाविधि चला जा रहा है। सूर्य उसी तरह निकलता है, उठता है, डूबता है, चाँदनी खिलखिला उठती है। मन क्लान्त हो कर भी जाने कैसा हो उठता है। बसन्ती हवा की झकझोर में भी नाम को अन्तर नहीं पड़ा है। सरिता के वक्ष पर भी लहरों का उठना-मिलना ज्यों का त्यों है। कितने करुण चित्रों की साक्षी है वह पर उसकी गति वैसी ही है।

मेरे ही जीवन-क्रम ने कौनसा इतिहास बदल डाला है? नौकरी-चाकरी, बीबी-बच्चे, सैर-सपाटा, यार-दोस्त, रुपया-पैसा सभी तो साथ रहे हैं। पिछले चार वर्षों से भोजन अवश्य एक समय करने लगा हूँ। डाक्टर शरीर का रोग भले अनुमान कर लें पर किसी के मन में धँसना सम्भव कहाँ? वे जीवन को कितनी भी मान्यता क्यों न प्रदान करें, इस जगह मैं उनसे कदापि सहमत नहीं हो सकता। मन वर्षों की साधना और अनुसंधान के बाद केवल एक बार कहीं अपना आधार खोज पाता है, उसे भी यदि समाज की निर्ममता छीन कर कहीं दूर फेंक दे तो भी जीवन में कुछ उल्लास शेष रह जाता है क्या? खैर, अब मुझे ही कितने दिन और जीना है। अब भी दुनिया से कुछ पाना तो है नहीं। सफर पर जाते समय लोग बहुत कम सामान लेकर चलते हैं, फिर मैं ही क्यों बोझिल बना रहूँ?

उस दिन मन्दिरों के मार्ग में एक युवती को वैसी ही साड़ी पहिने देख मन काँप उठा। मेरी रमा भी ऐसी ही गबदू और आयत-

लोचना थी। रूप-रंग को लेकर सोचना या उलझना मैं छिछलापन मानता हूँ। मेरे मानस-पट पर वह जो अमिट छाप छोड़ गई है अपने गुण और व्यवहार की, वही मेरा सर्वस्व है। उसकी स्मृति ने मुझे जीने के अयोग्य बना दिया है, केवल मृत्यु मुझे अपने अञ्चल की शीतलता से शान्ति दे सकती है। पर कब वह स्वर्णिम क्षण आएगा? रूप-यौवन, उमंगें--कुछ भी स्थिर होता तो जीवन में चाहिये ही क्या था? कल स्वयं अनन्त के गर्भ में विलीन हो जाने वाला मानव आज प्रेम के हिंडोले झूलता है। मैं ही क्या जानता था कि एक युग की मूक तपस्या फल-प्राप्ति का दिवस ही न देख सकेगी। आज तो वह स्मृति मात्र शेष रह गई है। मेरी रमा बहुत दूर चली गई है। आह, कितनी दूर!

वह प्रभात आज भी मेरे सामने साकार है जब कि पहली बार नदी के घाट पर मेरा उससे साक्षात् हुआ था। वह नहा कर आगे ही बढ़ रही थी कि मेरा धोती निचोड़ना देख कर खिल-खिला कर हँस पड़ी। हाथ से धोती छीन लोटा भर पानी और उलीचा उसने उसमें से। मैं स्तब्ध रह गया। कुछ कहूँ-कहूँ कि वह चल दी अपने भाई के साथ जो नहा कर दूसरे घाट से वहाँ आ पहुँचा था। उसकी वह सद्यस्नात, दिव्य देह और सुनहले बाल सदा मेरी पुतलियों में नाचते रहे हैं और रहेंगे।

चार-पाँच दिन बाद वह तरकारी खरीदती मिल गई। दूकान-दार उसकी दुअन्नी खराब बता रहा था। उसके लिये झोले की तरकारी उलटने के अतिरिक्त चारा ही क्या था? मैंने अचानक पैसे दे दिये। वह कुछ झिझकी पर एक झटके से बोली—'धन्यवाद!' मैं उसके साथ चल दिया और किसी तरह यह जान सका कि वह कहाँ रहती है।

मन उसके अभाव में बड़ा खिन्न रहने लगा। रह-रह कर यही लगता है कि वह अब कब मिलेगी। घाटों के चक्कर काटता पर व्यर्थ।

इसके बाद रविवार को वह पुनः घाट पर दिखी। मैं दूर बैठा ही देखता रहा। फिर तो हर रवि को वह नियमित रूप से वहाँ नहाती मिलती और मेरा तृषित मन कुछ आश्वासन पाता। फिर बीच-बीच में लम्बे-लम्बे छः दिन आ जाते और मेरी खिन्नता बढ़ जाती। कुछ सोच न पाता था कि क्या करूँ, क्या नहीं। केवल वह हो और मैं होऊँ और हो सूना एकान्त—बस इतना ही, केवल इतना।

एक दिन सहसा दफ्तर जाते हुये देखा कि वह पुस्तकें वक्षस्थल से सटाये चली जा रही है। मैं देखूँ-देखूँ कि उसने दोनों हाथ उठा ही तो दिये। मेरा मन हर्ष से नाच उठा। यही पता लगाना और था कि किस स्कूल में पढ़ती है। दूसरे दिन छिप कर उस सड़क पर बैठा रहा और सब जान कर ही रहा।

फिर वह संध्या को लौटती मिली तो मैं कह उठा—'क्या कभी मुझसे न मिलोगी ?'

'आप मेरी विवशता को कुछ नहीं जानते।'

'पर मेरी प्रार्थना है, किसी तरह एक दिन सिनेमा ही मेरे साथ चलिये।' मेरा चेहरा आशंका से विवर्ण होता जा रहा था।

'मेरे भाई पाँच तारीख को बाहर जा रहे हैं। उसी दिन छः बजे संध्या को यहाँ मिलूँगी।' और फिर नमस्ते की मुद्रा में वे हाथ उठे और वह चल दी।

पाँच जून तक का समय मेरे लिये बड़ा ही बोझिल बन आया। चारों ओर से मन हट गया और नींद-भूख तक खो बैठा। ज्यों-त्यों कर वह दिन आया। मैं पाँच बजे ही वहाँ पहुँच गया। छः भी बजे ही और वह आ गई—एकदम श्वेत वस्त्रों में देवांगना-सी दमकती। मैं लहलहा उठा और सिनेमा के बाक्स में हम जा बैठे।

चित्र में एक निर्धन कन्या के किसी धनिक के प्रति प्रेम का वर्णन था। नायक की बाद की उपेक्षा से कन्या को बहुत क्लेश उठाना पड़ा।

'प्रेम की प्यास कितनी भी स्वाभाविक हो, उसकी स्थिरता और निर्वाह पर कोई एक मत नहीं हो सकता।' वह बोली।

'धोखा अधिक होता है पर इसी कारण से तो सब कुछ ठुकराया नहीं जा सकता। मन को पहिचानना तो कठिन है ही, उसके हाथों न बिक जाना और भी कठिन है।' मैंने लज्जित मुद्रा में कहा।

उसके बाद की कहानी करुण ही अधिक है। उस दिन की बात उसके भाई तक पहुँच ही गई। उसे बहुत दण्ड मिला। कई मास बाद संध्या को टहलती मिली। एक घाट पर बैठे। दुःख और विवशता से मेरे आँसू निरन्तर बहते रहे।

बातों से ज्ञात हुआ कि एम० ए० के पूर्व उसके विवाह का प्रश्न कोई महत्व नहीं रखता।

मैंने धैर्यपूर्वक वर्षों यों ही बिताए। माँ, बहिन, बुआ सब रो रो कर हार गईं पर विवाह नहीं ही किया।

कभी-कभी रमा की दो पंक्तियाँ पाकर मैं महीनों हर्षोन्मत्त रहता पर यह सौभाग्य भी बहुत ही कम प्राप्त होता था। अन्त में वह दिन भी आया जब उसने एम० ए० किया और हमारी इच्छाएँ, मन, जीवन कुछ आश्वस्त हुए। पर मेरी माँ पहिले तो इधर मेरा झुकाव देख कर ही ठिठक गईं। फिर बोलीं—'करना ही है तो उसी से करो जिसे मैं वचन दे चुकी हूँ। वह भी निर्धनता के कारण आज तक क्वाँरी बैठी है।'

यह सब रमा ने सुना तो खाट पकड़ ली। मैं सोचता रहा कि कुछ दिन में सब ठीक कर लूँगा पर सहसा रमा टाइफाइड में पड़ गई और एक रात चल दी। मरते समय एक बात ही कह गई—

'तुम विवाह अवश्य कर लेना। जीवन में जो नहीं है, नहीं मिल सकता, उसके नाम पर सामने की वस्तु को भी ठुकराना ठीक नहीं है।'

माताजी की निर्वाचित निर्धन कन्या से मेरा विवाह भी हुआ, बच्चे भी हैं, पर रमा! उसका बलिदान क्या व्यर्थ जाएगा?

सुधीर की भाभी

सुधीर को आज पत्र मिला कि बड़े भय्या का सहसा स्वर्गवास हो गया है। उसका हृदय 'धक' हो गया। गत वर्ष ही तो उनका विवाह हुआ था और बेचारी भाभी जिसके हाथों की महँदी नहीं धुली, जो जान तक न पाई कि संसार क्या है, सुख क्या है, उल्लास भला कहते किसे हैं ? हिन्दू विधवा लम्बा जीवन, घोर अन्धकार ! कौन से पाप किये थे उनने उस जन्म में। और वह चल दिया पहिली गाड़ी से घर को।

घर में हाहाकार मचा था वह भी मानो उसमें खो गया। जिधर देखो एक शून्यता मानो मुँह खोले खड़ी थी। अपनी नव-परिणीता भाभी को वह कैसे देखे ! पिताजी खोए-खोए पड़े थे। माँ बार-बार मूर्छित हो जाती थीं और भाभी को देखने का मानो किसी के पास साहस न था।

इसी वर्ष एम० ए० किया, कालिज में लेक्चरार हो गये। लम्बा-पूरा नौजवान, आकर्षक व्यक्तित्व, मधुर मुसकान और यों चल बसे। माँ-बाप के सब अरमान धरे ही रह गये। नियति का चक्र कब क्या घटना ले आएगा, भला कोई जान सकता है।

सुधीर को लगा भय्या तो गये ही पर भाभी का क्या होगा ? शिक्षित, सुन्दर, संभ्रान्त, यह आयु और ऐसा वज्रपात। वह मानो भूल गया कि भय्या मरे हैं, उसे लगा कि भाभी जीवित लाश हो गई हैं। क्या हिन्दू-धर्म उदार नहीं बन सकता ? उसमें कोई संशोधन

नहीं हो सकता ? ये रूढ़ियाँ तथा ये हत्याएँ ! यदि संयोग से भाभी न रहतीं तो भय्या साल भर भी राह न देखले, नई बहू ले आते, फिर केवल नारी ही यह हलाहल कब तक पीती रहेगी ? क्या दोनों के लिये समान नियम नहीं हो सकते हैं ? सुविधा तो उलटे नारी-जाति को मिलना थी जो है दुर्बल, पददलित और पराधीन !

लगता है धर्म-शास्त्र मनुष्यों ने बनाये। अपने लिये सभी सुविधायें उनने निर्मित कर लीं। तो अब भाभी रङ्गीन धोती नहीं पहिन सकेंगी, चूड़ियाँ उनके लिये न होंगी, रस-रङ्ग-सुख से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। केवल ईश्वर-भजन ही उनकी धरोहर होगी और वे मृत्यु की प्रतीक्षा करती रहेंगी। विवाह के बाद नारी के सब सम्बन्ध पति को लेकर ही चलते हैं। वह श्रीमती अमुक हो जाती है मानो उसका अपना कुछ नहीं रहा है। उसका अस्तित्व किसी में विलीन हो छायामात्र रह गया है। बुझी हुई लौ पर मर मिटना कोई हिन्दू-नारी से सीखे। यदि भाभी का विवाह एक वर्ष और न हुआ होता तो उनके लिये विश्व कितना मधुर व आशाप्रद था। हर व्यक्ति उनके स्नेह का केन्द्र हो सकता था पर आज मानो सब द्वार बन्द हो गए हैं और उनके प्राण घुट रहे हैं।

फिर सुधीर को लगा कि कल उसका विवाह होगा। उसकी पत्नी सजी-सँवरी, हँसती-खेलती इधर-इधर घूमेगी और भाभी के हृदय पर क्या बीतेगी ? यह वैषम्य, यह द्विविधा कब तक रहेगी ? पर समाज को बदल डालने की शक्ति अकेले सुधीर में तो है नहीं। वह आँसू बहा सकता है पर उससे भाभी के आँसू तो पुँछ नहीं सकेंगे। भाभी के लिये सान्त्वना के भी शब्द हो सकते हैं कहीं ! भाभी के माता-पिता भाई-बहिन सब मिल कर भी उन्हें क्या बल दे सकेंगे ? सम्पत्ति अब उन्हें और पीड़क है। श्रृङ्गार अङ्गारा है। भाग्य जिसे कहते हैं वह व्यक्ति का निज तक ही सीमित है अथवा परिवार

पर भी उसका प्रभाव है। आदमी अपने पापों का दण्ड भोगता है या उनके पापों का जिन्हें अपना कहने को विवश है।

और उसके दूसरे दिन सुना माँ कह रही थीं 'ऐसे चरण पड़े कि हमारे बेटे को भी निगल गई' और उसके पाँवों से मानो पृथ्वी सरक गई। और विद्रोह से आलोड़ित हो उसने कहा 'माँ, तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये। कोई भी पत्नी अपने पति को खा जाना चाहेगी? एक तो उनका भाग्य ही फूट गया, दूसरे तुम और तल रही हो। पर उसकी विचारधारा का मूल्य ही क्या। समाज, परिवार, व्यक्ति की अपनी बँधी-बँधाई लकीर है उससे हटकर कोई चलने क्यों लगा! जीवन भी पल भर में कैसी बिडम्बना से घिर जाता है कि जो अपने हैं वे ही पराये हो जाते हैं फिर परायों से सान्त्वना की आशा तो मृगमरीचिका मात्र है।

एक पल सुधीर के मन में आया कि यदि वह भाभी से विवाह करने का साहस दिखाये तो क्या हो? क्या यह श्रेष्ठतम उपाय नहीं है भाभी के अभिशाप का। पर दूसरे ही पल उसे लगा कि किस मुँह से तो वह कहे और कैसे वे तय्यार होंगी, फिर दोनों ओर के माता-पिता, पड़ोस, जाति, समाज सबका क्या होगा, पर क्रांति के लिये विरोध तो परमावश्यक-सा है। स्वर्ग और कहीं नहीं है, हम इस पृथ्वी को ही स्वर्ग बना सकते हैं। जो समाज सड़-गल गया है उसे बदल डालो, उसका आधार तो यों ही चरमरा रहा है। आज नहीं तो कल उसका विनाश तो अवश्यंभावी है फिर उसके विनाश का श्रेय जो भी ले-ले उसी का है और सुधीर की आँखें मानो एक नई ज्योति से चमक उठीं और वह उत्साह से खड़ा हो घूमने लगा। जो विचार ही करता रहता है उसका सब कुछ खो जाता है, चाहिये यत्न, त्याग, बलिदान!

और दो-एक वर्ष बाद जब सुधीर के विवाह की चर्चा उठी तब वह एक दिन अपनी भाभी से कह बैठा कि उसका विवाह एक ही

शर्त पर संभव है कि उसकी पत्नी वह हों। और भाभी स्तब्ध रह गईं, कि यह कैसे हो सकता है? वे तो उसकी माँ के समान थीं।

'पर एक पन्द्रह वर्ष की कन्या बीस वर्ष के युवक की माँ हो भी सकती है?' सुधीर बोल उठा। नहीं तो वह आजन्म अविवाहित ही रहेगा।

और कई मास खींचा-तानी चलती रही। अन्त में माँ-बाप को झुकना ही पड़ा। निर्णय की दृढ़ता मानो पाषाण की दीवार है जिससे टकरा कर कोई लाभान्वित नहीं हो सकता। वह अपने अस्तित्व की गरिमा को गौरवान्वित ही करती है।

और जब विवाह के बाद सुधीर भाभी से मिला तो बोला—'यह तो तुम्हें उस गड्ढे से निकालना था। अब तुम चाहे भाभी ही बनी रहो।'

'मेरे लिये तुमने जो बलिदान किया है उसके बाद भाभी, पत्नी, दासी जो भी रहूँ ठीक है। तुमने मेरे लिये अन्ततः इतना किया क्यों?'

'इसलिये कि भाग्य वास्तव में कुछ है ही नहीं। कर्म, पुरुषार्थ, साहस ही जीवन में सब कुछ हैं। पृथ्वी में यदि बीज न डाला जाय तो क्या फसल खड़ी हो सकती है?'

और भाभी ने अपना मस्तक सुधीर की गोद में झुका दिया।

टकराहट

राह मेरी है पर चलने वाला तो वह है न, मन भले मेरा कह लूँ पर नाच तो वह दूसरों की उङ्गलियों पर रहा है। रूप और यौवन क्या नहीं है मेरे पास किन्तु दूसरे के हाथों बिक जाने के आवेश को क्या कहूँ!

पर वश भी मेरा क्या था। जो जिसके लिए है, वहीं खो जायेगा, थमेगा, अड़ रहेगा, मिटा देगा स्वयं को। और यह विवशता क्या है। बुद्धि-विवेक जहाँ तरल बन खो जाते हैं, पुतलियाँ स्तब्ध हो जाती हैं एवं मादकता उद्वेलित हो उठती है वहीं प्रेम धरना दे बैठता है।

आज विभा बुरी तरह बेचैन है। जीवन की अटल साधना पर इस तरह सहसा टकराहट लग रहेगी इस की कल्पना तक कब थी उसे। आशा और विश्वास का हवाई महल ताश के पत्तों-सा यों ढह पड़ेगा, इसका भी क्या विचार करना था उसे।

घिर आए उसकी पुतलियों में बचपन के वे अल्हड़ दिन जब अकेलेपन से ऊब उसने एक सहचर की खोज की थी। सुबह से शाम तक की वह धूम, आँखमिचौनी और मारपीट फिल्म की तरह घूम गई उसके सामने।

नदी-किनारे की वह बात उसे दंश-सी कसमसाने लगी। उस उमस भरी साँझ में पैर फिसल जाने से जब वह गोते खाने लगी तो

तैरना न जानते हुए भी उसके रूप ने ही तो सात वर्ष की अवस्था में ही, बीच धार में कूद, अपने साहचर्य को दृढ़ किया था। भला इस पर भी क्या वह उसे अपना न मानती, अपने तन-मन को उन चरणों पर न्योछावर न कर डालती ?

पर विभा की नारी आज यह अवश्य जान पाई है कि प्रेम करना, प्रेम पा लेना और किसी भावुक घटना से सदा को किसी को अपना मान बैठना, भोलेपन की दुर्बलता ही है पर उस दिन की विभा की बुद्धि में यह जँच भी कैसे सकता था कि बाल्यावस्था का भोला स्नेह, यौवन की चट्टानों से टकरा कर अक्षुण्ण नहीं ही रह पाता।

पर भूल जो करता है, दंड भी उस ही का भाग है न! एक क्षण की चूक जीवन की परिधि भर को विषाक्त कर डालती है। पर अच्छा है यह सब। दूसरों को ठगने की अपेक्षा ठगे जाने में फिर एक शान्ति है, बलिदान भी। यों छल के अतिरिक्त और संसार में है भी क्या! जब शिकारियों से भरा है संसार तो निशाना भी तो कोई बनेगा ही!

विभा ने इस वर्ष बी० ए० किया है, रूप ने एम० ए० ऐसा साथ भला किसका रहा है। सुबह की चाय से लेकर रात के शो तक सब प्रोग्राम साथ। विभा ने रूप के विचारों में स्वयं को इस तरह डुबो दिया था मानो कोई नदी समुद्र में जा मिली हो।

मन में एक स्वप्न अङ्गड़ाइयाँ ले रहा था विभा के कि विभा और रूप, रूप और विभा के सिवाय कुछ न होगा जीवन में। एक गर्व पर वह जी रही थी, एकमात्र उसी पर, पर आज, आज क्या है!

उसकी बातें, व्यवहार, कविताएँ, एकनिष्ठता सभी असत्य हों पर क्या उसके आँसू भी पानी की बूँद मात्र थे, यह तो वह इस क्षण

भी स्वीकार न कर सकेगी । आँसुओं ने ही उसे पागल बनाया अन्यथा वह भी पाषाण-सी अडिग थी, रही भी । पर इन बिखरे तारों में उसके आँसू क्यों धँस गए हैं इस पल । यह क्या है, क्यों है, केवल यही क्यों है उसके भाग्य में ? फूट-फूट कर रो पड़ी वह । खूब रो ली, कुछ हल्का लगा । रात की चादर बोझिल-सी सट कर विश्व को थामे थी । एक विचार उसके मन में उमड़ा क्यों न एक बार फिर रूप से मिलूँ ?

पर यह कैसे हो ? मैं औरत हूँ इसीलिए दीन-दुर्बल हूँ । गई बीती हूँ । प्रेम किया है तो मन का मान भी बेच दिया है क्या ? ठुकराने वाले चरण को चूमने की शक्ति नहीं है उसमें । यह नहीं होगा, किसी प्रकार नहीं ।

जो किसी प्रकार अपना नहीं है, अपना नहीं हो सकता उससे मैं अपने अस्तित्व-निर्माण की भीख माँगूँ ? आज खुली तो मेरी आँखें और खुली की खुली ही रह गईं । अच्छा ही हुआ, बहुत अच्छा !

वह तो बेसुध थी, बनी रहती बेसुध न जाने कब तक पर सुषमा ने उसके नशे को काफ़ूर कर दिया ।

उस रात मूसलाधार वर्षा होने से चाय पर आई हुई सुषमा मेरे यहाँ अटक जो गई थी । बातों-बातों में मेरे दुराव को झनझना उठी, बोली—'विभा, उड़ी-उड़ी क्यों रहती हो ?'

'नहीं तो बहिन, मन ही उदास है ।'

'जो किसी बात को पकड़ मन में ही घुटता रहेगा, उसका उपाय भी क्या, फिर अन्धे को तो सारा उपवन ही हरा दीखता है न ! उसे चाहिए कि किसी की उङ्गली पकड़ कर चले ।'

'मिस सुषमा, कालेज की मजाक यहाँ क्यों ले बैठीं ।'

'मजाक नहीं सवा सोलह आने सच। तुम किसी के प्रेम की बन्दी न होओ तो जो कहो सो करूँ। आँखें मत छिपाओ, रानी जी!'

'पर नारी का निर्माण ही कोमल तत्वों से हुआ है न। जो चाहे करो पर खिसकना मत। नारी जिसे हृदय देती है, सर्वस्व सौंप देती है परन्तु पुरुषों के लिए वह केवल विलास की सामग्री है। वह अपने जीवन की अन्तिम नारी को भी कुछ नहीं देता। हार न बैठना इस सौदे में। इतना ही बस।'

'न हर मनुष्य ऐसा है और न हर नारी ही।'

'गर्व के दुर्ग ढहते ही हैं। नारी का दायरा सीमित है पर पुरुष की दृष्टि टिकना और टिके रहना नहीं जानती। वह विकासवादी है न, केन्द्रित होना उसका लक्ष्य नहीं। तुम मि० रूप को जानती हो जो सर्वप्रथम आए हैं, एम० ए० में अङ्गरेजी लेकर इस वर्ष। कितने सुशील, कैसे भावुक ... परन्तु!'

'परन्तु क्या?' विवर्ण हो उठी विभा और यह रेखा सुषमा से न छिप सकी।

'उन जैसा आचरणहीन मनुष्य मैंने आज तक नहीं देखा।'

'तुम यह कैसे कह सकती हो। सब सुनी बातें सत्य नहीं होतीं।' उत्तेजना ने लाल बना डाला विभा को।

'क्यों तुम्हारी क्या उनसे पहिचान है?'

'हो या नहीं पर तुम किसी के विरुद्ध यह अभियोग कैसे लगा सकती हो?'

'मैं जो कहती हूँ उसे प्रमाणित भी कर सकती हूँ। अभी ११ बजे तुम नाटक देख लोगी, बोलो चलोगी, है साहस?'

'हाँ, अवश्य!'

और ग्यारह बजे रात को वह एक प्रसिद्ध होटल के पिछवाड़े ले गई थी उसे और विभा ने सुषमा की पीठ पर चढ़ कर जंगले में से

देखा कि रूप एक यवन-कन्या से प्रेमालाप कर रहा है। कह रहा है—'तुम्हारे बिना मैं एक क्षण भी नहीं जी सकता। हमीदा, रोज यहाँ इसी तरह आ जाया करो।' और उस प्रेम-मिलन के विचित्रतापूर्ण दृश्य को देख, चीख मार, मूर्च्छित हो गिर पड़ी वह। मानो आँखों में किसी ने जलता सीसा उँडेल दिया हो और अब घर की शून्यता में साँय-साँय बन स्वयं ही पूछती है 'मनुष्य यह?'

यह रात उसके जीवन की सबसे भयंकर विभीषिका थी। एक बार उसने सोचा भी विष खा लूँ पर पुनः सजग हुई, सोचा। इससे कुछ न सुधरेगा। प्रातः होते ही लाल भरी आँखें लिए विभा पिता से संयत स्वर में बोली—'मैं विवाह कभी नहीं करूँगी।'

दुर्निवार

कालेज के घंटाघर ने दस बजाए। विपिन की तंद्रा टूटी। आज की दुपहरी और संध्या किन विचारों में बीत गई। कालेज बन्द है, चारों ओर सुनसान है पर उसके विचार के लिए ऐसा ही स्थान चाहिए भी। उसे सनकी कहो या अस्वस्थ परन्तु दुनिया अब उसे काम-काज का व्यक्ति नहीं समझती। जिसे दया और सहृदयता की सबसे बड़ी आवश्यकता है, उसे ही ठुकराया जाता है। क्या इसी का नाम संसार है ?

बम्बई जैसा भव्य शहर। वैभव के अटूट आकर्षण। जगमगाहट और युवतियों की दृष्टि भी विपिन को जरा नहीं अटका पाती। उसका निर्माण ही जाने किन तत्वों से हुआ है। दुनिया उसे कभी आकर्षक नहीं लगी। वह पूर्णतः सन्तप्त एवं निराश है।

कारावास की सीमित परिधि मधुर थी फिर उसे इस सुनहले संसार में कौन ले आया ? क्यों ले आया ? इतनी लम्बी अवधि और दुर्निवार शून्यता भी उसे दुनिया में रहने योग्य न बना पाई। प्रत्येक वस्तु का कुछ उपयोग है, उसमें जीने की हविस और बल है पर विपिन ? उसकी बात न पूछो।

यह रिक्शावाला खड़ा है। दो-ढाई रुपए तो कमा ही लेता होगा। अब घर लौटेगा ही। बाल-बच्चे घेर लेंगे। पत्नी कोट उतारने में सहायता देगी। कदाचित् हाथ-पाँव भी दाबे। कहेगी—

'तुम इतनी महनत न किया करो। हम कम में भी निर्वाह कर सकते हैं।'

वह पान-खाला व्यक्ति टहल कर घर लौट रहा है। भोजन कर चुका होगा। मा-बहन दूध ठण्डा कर रही होंगी। रेडियो सुनेगा। ठंडी हवा की थपकियों में सो रहेगा।

खोमचे वाले क्या कमाते होंगे और उनका धरातल ही क्या? पर उनके चेहरों पर उत्साह और सन्तोष नाच रहा है! फिर वह: क्यों इतना सन्तप्त और निराश है? एक स्वप्न टूट जाने पर क्या जीने को कुछ शेष नहीं रहता? प्रेम की प्यास एक बार ही जगती है और भाग्य से टकरा कर सदा के लिए चूर-चूर हो जाती है।

विपिन ने स्वयं अपने पर कभी विश्वास नहीं किया। उसकी बुद्धि और गुणों का सामञ्जस्य संसार से कदापि न हो सकेगा। जनता के मन में उसके लिए स्थान है। उसका कार्यक्षेत्र त्याग, तपस्या और बलिदान से ज्वलन्त है; पर उसे क्यों नहीं शान्ति मिलती? कार्य और यश के आन्तरिक खोखलेपन से वह परिचित है। सारे संसार को धोखा देना सहज है पर आत्मप्रवञ्चना की भी कोई औषधि है?

इतने विशाल कोलाहलपूर्ण जग में वह भी अपने जैसे अकिंचन व्यक्ति को खपा देगा, इसी विचार से उसने राजनीति का क्षेत्र अपनाया था। परन्तु जो स्वयं का नहीं है, जो स्वयं को प्रेरणा और शान्ति नहीं दे सकता, वह संसार को क्या शान्ति देगा? अनाथ जीव अनन्त भटकन का पर्याय है। निर्बाध रूप से किसने किसे कब तक अपनाया है। संसार के लिए तदनुरूप व्यक्ति चाहिए—उनके संकेतों पर नाचने वाला, उनकी कुत्सित कामनाओं में डूब जाने वाला। विपिन इतना कैसे करे और कब तक करे? उसे व्यक्तिमात्र से घृणा हो गई है। शून्यता में फैले विचारों के ताने-बाने फिर उसे शान्त रखते

हैं। उसके आदर्श और सिद्धान्त एक नई दुनिया रचने की प्रेरणा देते हैं पर क्या सब इच्छित अभिलाषाओं की उपलब्धि सम्भव भी है ?

विपिन की शिक्षा पाने का इतिहास भी कम कसकता नहीं है। अपने शहर में इन्टर कालेज की पढ़ाई समाप्त कर, आर्थिक संकटों का शिकार बन वह दैनिक पत्रों की 'आवश्यकता है' का भक्त बना। एक पंजाबी परिवार को बम्बई में एक ट्यूटर की आवश्यकता थी। भोजन, निवास भी मुफ्त था, पच्चीस रुपए मासिक अतिरिक्त। चल ही तो दिया वह और बी०ए० में पढ़ने भी लगा। उसकी विद्यार्थिनी जसवन्त छटवें दर्जे में पढ़ती थी। धीरे-धीरे वह आठवाँ दर्जा पास कर नवें में प्रविष्ट हुई। विपिन एम० ए० फायनल में था कि राजनीति की लहर ने उसका अध्ययन छुड़ा दिया। उसके भाषणों की बम्बई में धूम थी। उसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक हो गया और नई-नई उलझनों के कारण उसे घर आने तक का अवकाश न मिलने लगा।

जसवन्त उसके जीवन का एक प्रश्न-चिह्न बन गई। पहिले दो वर्ष तो वह निरी बच्ची थी पर यह सारा वर्ष भावनाओं के आदान-प्रदान में ही बीता है। चाय से लेकर झाड़ू, पानी, कपड़े तक विपिन का सब काम वह स्वयं करती है। आश्चर्य उसे यह था कि वह दृष्टि भर इस ओर देखता तक नहीं है, जबकि वह निर्निमेष उसे निहारती रहती है। उस दिन किसी प्रसङ्गवश विपिन कह उठा था--'मृत्यु भी ईश्वर का कितना मनोहर वरदान है !'

'परन्तु जो चाहता है, वह उसे कदापि नहीं मिलती' जसवन्त ने म्लान मन से उत्तर दिया। वे दोनों इतने समीप आ गए कि पल भर का वियोग एक-दूसरे को असह्य हो जाता था। जसवन्त के माँ-बाप उच्च विचारों के व्यक्ति थे, सोचते विपिन सा योग्य वर उन्हें मिलेगा भी कहाँ ?

जसवन्त ने बहुत चाहा कि विपिन राष्ट्र-कर्मी, बलिपन्थी न बने। माता-पिता भी कह-कह कर हार गए पर क्रान्ति की ज्वाला जब

एक बार श्वासों को छू लेती है तब पीछे हटने का प्रश्न ही कैसा? संसार के हित के लिए, देश की पुकार पर व्यक्ति को स्वयं के मोह से ऊपर उठना ही होगा।

कई बार जसवन्त का मन पुलक से आर्द्र हो उठता कि उसका विपिन इतने उच्च ध्येय का पथिक है, वह भला उसके हेतु कंटक बनेगी? पर मन काँपता रहता। एक समय भोजन करने लगी। उसने देवी-देवता, दान-धर्म को शान्ति का आधार बनाया पर होनहार कब टलती है? एक दिन विपिन गिरफ्तार हो गया और अनिश्चित समय के लिए जेल में ठूँस दिया गया। जसवन्त पर तो मानो पहाड़ टूट पड़ा। जीवन भर की साधना मानो निष्फल हो रही हो।

दूसरे ही दिन विपिन ने सुना कि हृदय की गति बन्द हो जाने से महाप्रयाण कर गई। इतना भीषण आघात वह कैसे सँभालती?

नारी की कोमलता को वह अब समझा, जब सर्वस्व छिन गया। उसके विचारों में कितने बवण्डर नित्य उठते हैं। कई बार वह सिसक उठता है और फिर आँखें पोंछ आकाश में देखने लगता है कि किस नक्षत्रलोक को मेरी जसवन्त ने अलंकृत किया है।

जीवन की राह

खेल तो राजीव को जँचा परन्तु मार्ग की बर्फीली हवा मानो उसे काटने लगी। सामने ही टावर की घड़ी ने दो बजाए। उसकी धड़कन बढ़ गई। सोचने लगा ओफ कितनी देर हो गई। सुबह नौ का घर से निकला हूँ। यह तक नहीं कि कहला ही देता कि दूसरे शो में जा रहा हूँ। जीवन की यन्त्रता में यह अचानक के प्रोग्राम भले कुछ विस्मरण और रंगीनी ला दें परन्तु पारिवारिक व्यवस्थित रूप-रेखा में तो ये हलचल ही ले आते हैं न! यदि रेखा कहती है कि उसे भय लगता है तो क्या वह अपर्याप्त है? माँ-बाप, भाई-बहिनों के बीच पली चौदह वर्ष की कन्या दिन भर तो एकाकी रहे ही, रात्रि की साँय-साँय में भी विह्वल न हो उठे, यह किस प्रकार सम्भव है। सचमुच उस पर अत्याचार है। किसी की वेदना का यथार्थ अनुभव स्वयं को उस स्थिति में रखने की कल्पना करके ही ठीक हो सकता है। उसे तो छुट्टी के दिन भी कोई कह दे कि आज कहीं न जाओ तो उसका मन उकताने लगता है। फिर पिंजरबद्ध नारी ही सब कुछ सहने का निष्ठुर वरदान लिए है क्या? पर नारी का तो क्षेत्र ही घर है। समाधान जुटाता है वह। घर की स्वामिनी है न वह। फिर उसके अकेलेपन को मिटाने का उपाय हो ही क्या सकता है, सिवाय इसके कि ईश्वर उसकी गोद भर दे। पर इस पर उसका ही तो सीधा वश है नहीं फिर मध्यम परिवार में सन्तति कष्ट और अभिशाप ही ला सकती है। वह स्वयं घर में बैठा रह कर घुटघुटा कर, अपना

साँस लेने का अवकाश खो भले ही दे पर रेखा को क्या दे सकेगा ? और वह भूखी होगी अब तक इस विचार से कुण्ठित सा वह घर के द्वार पर पहुँच गया। किवाड़ भिड़े थे। अन्दर जा कर देखता क्या है कि सींखचेदार खिड़की पर बैठी रेखा दीवार से सिर टिकाए सो गई है। उफ् ! इस प्रतीक्षा की भी कोई आवश्यकता है। कितनी बार समझाया उसे पर विचित्र है उसका मन।

सोचा उसे न जगाऊँ पर बिस्तर पर तो लिटाना ही होगा, यह विचार कर आगे बढ़ा कि हड़बड़ा कर उठ बैठी वह, बोली—'कब आए तुम ?'

'अभी तो आ रहा हूँ !'

'मैं जरा झँप गई थी !'

'इतनी प्रतीक्षा क्यों करती हो ?'

'सो क्या हो गया उसमें ? मैं तो चिन्ता में पड़ गई थी' कहती हुई वह खाना लाने चल दी। कपड़े बदल भी न पाया था कि टेबल पर थाली आ गई थी। वह कुर्सी पर जा बैठा और भोजन की ओर देखता हुआ बैठा ही रहा दो-चार मिनिट और जोश में उबल थाली-लोटा इस तरह फेंका कि सारा कमरा पीला-सफेद हो उठा और झनझना उठीं कटोरियाँ। अपनी पूरी शक्ति से चिल्लाने लगा वह। तुमसे कितनी बार कहा—मेरे लिए सारे जीवन दोनों समय केवल दाल और रोटी बनाओ। मुझे और कुछ नहीं खाना है। तुम्हें जो खाना हो बनाओ पर अपनी रुचि मुझ पर क्यों उँड़ेलती हो ?

रेखा भय से विद्रूप हो उठी। इच्छा थी कि कुछ न कहे, पर धीमे स्वर में बोली—'आज छठ थी। पूजा होती है न, इससे।'

'तुम कुछ भी करो पर मैं ....मेरे सामने यह कचोरियाँ-भजिए क्यों ? क्या आज तक तुम यह नहीं जानतीं कि मैं अच्छे भोजन से घृणा करता हूँ ?'

ऐसा करे भी तो क्या ? उसकी समझ में यह सब अँट भी तो नहीं पाता। दिन भर कितने उत्साह से सब चीजें बनाई थीं सो क्या इसलिए ? मनुष्य को, दूसरों के लिए ही सही, जीना सीखना चाहिए। किसी के मन को इस तरह तोड़ना सो भी नित्य, इसी प्रक्रिया को पुरुष प्रेम कहते हैं क्या ? माता-पिता ने इतने लाड़ में क्या इसलिए पाला था मुझे कि जो ईश्वर ने दिया है, उसे भी खा-पहिन न सकूँ। पति की भावना भी छोड़ो, घर में दो तो जीव सो ये तो नित्य दाल के पानी में डुबा कर सूखी रोटियाँ चबाएँ और मैं हलुआ-पूरी खाऊँ, मुँह में भी तो नहीं धँसता। मनुष्य तो बहुत देखे पर ऐसा तो सुना भी नहीं। भोजन से इन्हें चिढ़, गहने-कपड़ों से घृणा फिर प्रेम किस चीज से है समझ में नहीं आता। सब कुछ होते हुए भी विधवा-सी रहूँ तब इन्हें अच्छा लगे। ऐसी अच्छाई को क्या चाटूँ ? ऐसे ही विरक्त थे तो विवाह क्यों किया। कहने कौन आया था। सच तो यह है कि नारी निरन्तर घृणा सहती है और फिर भी प्रेम करती है। उस ही का यह पुरस्कार है। जानते हैं और तो पति कर ही नहीं सकती। जब दूसरी गति ही नहीं है तो जैसे चाहे रक्खो। उसकी दुर्बलता का लाभ ही क्यों न उठाओ। वाह रे भाग्य ! क्या इसी का नाम जिंदगी है ?

और इन्हीं विचारों में उलझी वह उठी, कमरे को साफ किया और चाँदनी पर जा बैठी, फूट-फूट कर रोने लगी। पर्याप्त रो-धोकर उसे ऐसा लगा मानो आश्वस्त हो गई है। फिर सोचने लगी मेरा अपराध ही क्या है ? क्या कन्या होना ही मेरा अभाग्य है ? जीने की साध ही मुझे विष है और मृत्यु अमृत।

राजीव बिस्तरे पर पड़ा सोचता है कि वह भोली कन्या मेरे जीवन की विषमता को समझे भी क्या। क्या करूँ मैं ? किस तरह प्रसन्न बनाऊँ इसे ? जन्म का अनाथ व्यक्ति कितने आघात सह-सह

कर उठता है। कितनों को अपना मान उनसे छला जाता है वह। जीवन में उसे कभी वह नहीं मिल पाता जो उसका अधिकार है। स्वाभाविक जीवन से वंचित होकर जो कुण्ठा उसके मन में गहरी धँस जाती है उसे वह किस प्रकार निकाल फेंके। माना सब से बड़ा अपराध उसने यह किया है कि विवाह के नाम पर एक होनहार कन्या के जीवन को कुचल डाला है पर इस पर भी उसका वश था क्या। यह कन्या भी यदि उसकी हो चुकी तो उसके संकेतों पर क्यों स्वयं को खपा नहीं देती? सब अपनी राह घसीटते हैं। यह तो जिन्दगी नहीं है। उसे तो जीवन और उसके उपादानों से तीव्र घृणा हो गई है। उसे कहाँ ले जावे, उसे कैसे समझाए? इसी से कहते हैं इच्छा ही विडम्बना है, चाह ही भयंकरता को आवाहन देना है, निरपेक्षता मात्र सत्य है।

मन की शाँति उसे धन-दौलत, रूप-यौवन, भोजन-वस्त्र, नाच-रङ्ग में कहीं भी तो नहीं मिलती। जो खो गया है उसका, वह तो अब उसे त्रैलोक्य के देवता भी नहीं दे सकते। फिर भी इस कन्या का कोई दोष नहीं है। उसे इतना दण्ड न मिलना चाहिए पर स्वयं को नित्य विषपान करा मैं उसे कब तक जीवित रख सकूँगा। कुछ भी हो उसे मेरे दोषों का दण्ड क्यों मिले? न्याय की दृष्टि में चाहे सहस्रों अपराधी बिना दण्ड पाए रह जाएँ परन्तु एक भी निरपराधी दण्डित हो, यह तो वह नहीं ही चाहेगा।

उधर रेखा गहरा उतरती है। पर वे ही क्या झूठ कहते हैं। भोगों में ही शान्ति होती तो संसार के अधिकांश प्राणी प्रसन्न होते पर ऐसा है कहाँ? त्याग के बिना मन कुछ पा नहीं पाता। उनके लिए ही सही, कुछ दिन को मैं ही वैसी ही हो जाऊँ जैसा वे चाहते हैं, तब भी क्या वे प्रसन्न न होंगे। उनकी प्रसन्नता के हेतु क्या मैं इतना भी नहीं कर सकती। किसी को प्रसन्न बनाने के लिए, अपनी

इच्छाओं का बलिदान तो करना ही पड़ता है। मैंने आज तक यह सोचा ही कब। किसी को अपना बनाने की अपेक्षा किसी का बन कर ही रह लेना क्या अनुचित है। मैं दूसरे पहलू को कभी सोच ही नहीं सकी और उसकी आँखें अपूर्व तेज से चमक उठीं।

चढ़ाव उतर भी नहीं पाई थी कि सहसा ऊपर आते हुए राजीव ने रेखा के दोनों हाथ पकड़ आँखों में आँखें डाल कर कहा---

रेखा, विवाह तो एक प्रकार का समझौता है। कुछ तुम भी झुको, कुछ मुझे झुकाओ और निभ जाएगा यह खेल भी। जो केवल पाने ही पाने की इच्छा रखते हैं उन्हें तो इस वेदी पर निराश ही होना पड़ेगा परन्तु जब मृत्यु के पूर्व हमें अलग जीने का अधिकार ही नहीं है तो क्यों हम एक-दूसरे को अपने त्याग, सेवा और सद्भावना से प्रसन्न न बनावें। हैं तो हम दो पथिक ही पर चलना तो हमें साथ है।

और उसने अपनी भीगी आँखें उसकी छाती में छिपा लीं।

सौतेली माँ

मेरे कलेजे के टुकड़े !

तेरे जहाज को आँखों से ओझल हुए आध घण्टा भी नहीं हुआ और मेरे जी का उद्वेग उमड़ आया। टैक्सी पर तो लोथ-सी किसी तरह बैठी भी रही पर यहाँ आते ही कमरे के उस स्थल को देख, जहाँ तू भोजन किया करता था, मैं फूट-फूट कर रो उठी, हिचकियाँ बँध गईं। कदाचित् यह सम्पूर्ण रात्रि मूर्च्छा ही में बीती है। अब कुछ-कुछ उजाला फैलने लगा है और तेरी बेबस माँ यह पत्र लिखने बैठ गई है।

तेरे नेत्रों के समक्ष जहाँ अनन्त जलराशि है, वहीं मेरी दृष्टि भी इस सूनी पृथ्वी पर किसी को खोज रही है। तू जानता है कि जन्म से मेरी आत्मा और अन्तःकरण क्षण-क्षण प्रभु के चरणों में लीन रहे हैं और तुझे विदेश भेजने के कारणों में से यह भी एक है कि मैं कुछ दिन अकेली रह कर स्वयं को, ईश्वर के प्रेम में अधिक एकाग्र और सचेष्ट कर देना चाहती हूँ, परन्तु मुझे जाने क्या हो गया है, तुझे कैसे समझाऊँ। मेरी आँखें इस समय ढूँढ रही हैं अपने प्यारे बच्चे को, हृदय दीवाना-सा ही पूछ रहा है अपनी आँखों के तारे को और प्राण तड़प रहे हैं, सूनी गोद देख कर।

तुझ से यह छिपा नहीं है कि मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है और संसार में मुझे क्या काम करना है। परन्तु इस समय इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण एक दूसरा काम मुझे करना है, वह है तुम्हें अधिक से अधिक याद करना ! कल से एक क्षण के लिये

भी तुम मेरे हृदय से विलग नहीं हुए हो। अपने इन भावों पर काबू न रख सकने के कारण, हार कर मैंने इस छायादार पथ का आश्रय लिया है, जिससे मैं तुझे पत्र लिख सकूँ।

यह वही बाग है, जहाँ प्रातःकाल तुम गुनगुनाया करते थे। मैं उस आम के नीचे ही बैठी हूँ, जहाँ तुम लोट लगाया करते थे। आज इन्हीं वस्तुओं में मुझे तुम्हारा आभास मिल रहा है। तुम इन्हें कितना प्यार करते थे।

बेटा! इस स्थान पर सर्वत्र ही मैंने तुमको पाया है। जिधर भी मैं मुड़ती हूँ, तुम्हारी स्मृति मेरी आत्मा को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। गृह-द्वार, मार्ग-मन्दिर, वाटिका-उपवन प्रत्येक स्थान मेरे नेत्रों के सम्मुख तुम्हारी मूर्ति स्थापित कर देता है और मैं अतीत के उन सुनहले स्वप्नों में डूब जाती हूँ, जब कि तुम यहाँ, इन स्थानों में मेरे साथ थे। तुम सदा मेरे भावों में बस रहे हो और रह-रह कर मेरा हृदय तुम्हें पुकार उठता है। मैं व्यर्थ ही अपने पुत्र—उस प्यारे पुत्र को खोज रही हूँ! जब कि प्रत्येक पल उसे मुझसे दूर खींचे लिये जा रहा है। आह! कहीं इस समय वह मेरे पास आ सकता है! मैं उसे कितना प्यार करती हूँ! – कितना अधिक! मेरा हृदय फटा जाता है, पर मैं कितनी जकड़ी हुई हूँ। कैसी विडम्बना है। माँ की छाती इतनी कठोर हो सकती है? मैंने अपने इकलौते पूत को कहाँ भेज दिया?

पत्र हवाई डाक से भेज रही हूँ, जो तुमसे पहिले वहाँ पहुँच जावेगा। शेष फिर—

—तुम्हारी माँ

* * *

स्टीमर पी० एण्ड ओ०

२८ जुलाई.....!

पूज्या माताजी!

एक अनजान व्यक्ति का पत्र पाकर आपको आश्चर्य होगा

पर आपके पुत्र की स्थिति ने मुझे ऐसा करने के लिये विवश कर दिया है।

मैं भी कल इसी जहाज पर बैठा था। डेक पर ही भैया को देखा! बड़े ही उदास थे, आँखें भीगी हुई थीं। मैं भी अकेला ही जा रहा था, इससे विशेष उत्सुकतापूर्वक उनसे परिचय पूछा। बड़ी प्रसन्नता हुई। भाग्य से हमारा कमरा भी एक ही था। रात को करीब साढ़े बारह का समय होगा, मैं एकदम हड़बड़ा कर उठ बैठा। देखा, वे पागलों की भाँति बैठे थे। चेहरा बिलकुल विषण्ण था। मालूम होता था कोई गहरा सदमा लगा हो! थोड़े समय के बाद सहसा जोर से चीख उठे।

'माँ! माँ!! तुमने मुझसे वादा किया था, तुम कभी न रोओगी, फिर-फिर, ओफ! इतने बड़े-बड़े आँसू क्यों गिरा रही हो! नहीं! कदापि नहीं!! मैं यह नहीं देख सकता!!!"... 'फिर सिसक-सिसक कर रोने लगे!' आस-पास के कमरों के पचासों व्यक्ति वहाँ आ गए कि आखिर बात क्या है? उस क्षण उनके पागलपन का अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी चित्र सबकी दृष्टि के सम्मुख था। बहुत समझाने बुझाने पर कहीं आध घण्टे पश्चात् उन्हें होश आ सका। उस समय की उनकी फटी आँखें अब तक मेरे सामने घूम रही हैं। आए हुए सज्जनों ने उन्हें बहुत कुछ आश्वासन दिया, परन्तु उनकी शेष रात्रि माँ! माँ!! कहते ही बीती!

मैंने आज तक स्नेह के कई चित्र देखे हैं, आत्मीयता की अनेक घटनाएँ मेरे नेत्रों के समक्ष घटी हैं, प्रेम के बहुत कुछ व्यापारों का अनुभव मैंने किया है! परन्तु ऐसे घात-प्रत्याघात, यह सात्विकता नहीं देखी! भैया कहते हैं कि माँ रात भर अवश्य रोती रही हैं, अन्यथा उन्हें ऐसा दृश्य व्यर्थ दिखलाई दे ही नहीं सकता।

आपका पता मुझे उनकी डायरी में लिखा मिला है।
क्या आप सचमुच उस रात को रो रही थीं?

आपका
सुरेशचन्द्र।

* * *

बम्बई,
१ अगस्त······!

मेरे प्यारे बेटा!

तीन-चार दिन पहिले भी तुम्हें एक पत्र लिख चुकी हूँ। पहुँचने पर तुम्हें वे इकट्ठे ही पढ़ने को मिलेंगे, पर मुझे तुम्हारा पत्र कब तक मिल सकेगा, कौन कह सकता है?

जब से तुम गये हो, मेरे आँसू निरन्तर गिर रहे हैं और मैं उन्हें रोक नहीं सकती। मैं जानती हूँ, रोना दुर्बलता है। परन्तु तुम्हारे लिये मेरे हृदय और आत्मा की यह कोमलता भी स्वाभाविक और सत्य है। मैं किसी भाँति अपने को दृढ़ नहीं कर पाती।

मैं नहीं जानती, इन पत्रों को पढ़ कर तुम्हारी मानसिक स्थिति पर कौनसा प्रभाव पड़ेगा। कदाचित् मेरे ये मर्मस्पर्शी भाव तुम्हारे हृदय को न छू सकें और तुम इन्हें उस रूप में न ग्रहण कर सको! जिसमें ये लिखे गये हैं। परन्तु मैं विवश हूँ! अपनी इन भावनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकती और तुम्हें पत्र लिखना, मेरी वेदना को कम करता है और कम से कम मैं तो तुम्हें इसलिये ही लिखती हूँ! तुम्हारी याद से सराबोर इस स्थान ने मेरे हृदय में कौन सा झंझा बहा दिया—इसको तुम कदापि न समझ सकोगे।

परन्तु तुम्हारा अपराध ही क्या है? मैंने ही तो तुम्हें भेजा है। और क्यों न भेजती? तुम एम० ए० में प्रथम आकर आई० सी० एस० के लिये सरकार से छात्रवृत्ति पाओ, और मेरी ममता उसमें

वाधा देने आ खड़ी हो, भला यह कहीं हो सकता था ? कर्त्तव्य ने वाध्य किया, मैंने छाती पर पत्थर रख तुम्हें बिदा किया ! अब स्नेह उमड़ आया, मैं बिलख रही हूँ । मेरी भी क्या भूल है ?

संसार कहता है, तुम मेरे सौतेले पुत्र हो, परन्तु जानते हो तुम मेरे प्राणों के कितने निकट हो ! आज इस बात को बीस वर्ष बीत चुके ! मेरे हाथों की हल्दी भी न धुली थी । तुम पाँचवें साल में थे । तुम्हारे पिता हमें बिलखता छोड़ चल दिये थे । कहाँ वह सोलह साल की चढ़ती उम्र और कहाँ यह सफेद बाल ! जानते हो मेरा एक-एक क्षण तुम्हारे लालन-पालन ही में बीता है । परछाईं की तरह मैं कभी तुम से जरा भी दूर नहीं हुई ! यहाँ तक कि स्वप्नों में भी तुम सदा मेरी आँखों की पुतलियों ही में खेलते रहे हो ! अपने दुःख-सुख को भूल मैं तुम में कितनी रमती गई इसे तुम सहज ही न समझ सकोगे ! मेहनत, मजदूरी करके तुम्हें पढ़ाया-लिखाया और तुम चले गए, नहीं तो दो दिन बाद चाँदनी-सी झक-झकाती बहू भी······!

मैं पग-पग पर अपने जीवन से निराश थी ! परन्तु तुम्हारा मुख देख कर जीवित ही नहीं प्रत्युत निर्वाह के लिये पर्याप्त प्रयत्नशील भी रही ! आज जब कि तुम विलायत पढ़ने गये हो, मेरी छाती हर्ष-मिश्रित गर्व से फूल जाती है ! परन्तु तुम से दूर हो कर एक-एक पल मेरे लिये पहाड़ हो गया है, शान्ति मुझ से कोसों दूर चली गई है और मैं नहीं समझती कि तुम्हारे बिना ये पहाड़ से दिन और भयंकर सूनी रातें मैं किस तरह बिता सकूँगी ? मैं अनेक व्यंजन इसलिये बनाती थी कि तुम उन्हें खाकर प्रसन्न होगे, दस कामों में इसलिये सिर देती थी कि तुम्हें रञ्चक भी कष्ट न हो, हृदय में व्यथा के सैकड़ों बादल घुमड़ते रहने पर भी ऊपर कितनी प्रसन्न रहती थी कि कोई रेखा कहीं तुम्हें उदास न बनादे । सच पूछो तो मेरी मानसिक शक्ति का आधार तुम्हीं-केवल तुम्ही थे ! जिस के बिना लौकिक या पारलौकिक कोई भी कार्य कदापि सञ्चालित नहीं किया जा सकता ! फिर आज जब

तुम मुझसे इतनी दूर जा बैठे हो तो मैं यह वह सब कुछ किस के लिये करूँ ? किसके आगमन की प्रतीक्षा में अधीर और शंकित हो उठूँ ? किसके लिये थाली परोस कर रख छोड़ूँ ? किसके कपड़े ट्रंक में रखने जाऊँ ? किसके बिस्तर की चादर बदल दूँ ? किसके लिये दूध ठन्डा कर सकूँ ? मेरे आँसू पट-पट गिर रहे हैं। यही मेरी शाँति का एकमात्र अवशिष्ट उपाय है।

अपने पत्र में तुम मेरी इस मानसिक दुर्बलता की चर्चा न करना—मेरी तुमसे यह प्रार्थना है। तुम्हें मेरे आँसुओं के लिये श्रद्धा होनी चाहिये, क्योंकि वे उस हृदय से निकलते हैं, जिसके प्रत्येक अंश में तुम सदा व्याप रहे हो!

तुम्हारी माँ

... ...

विक्टोरिया सराय लण्डन
अगस्त······।

माँ!

मैं आज पहुँचा। तुम्हारे दोनों पत्र मिले! मुझ मूढ़ बालक के लिये तुम कितनी दुखी हो। मुझे भी तुम्हारी याद भुलाई नहीं भूलती! जहाज पर भी मेरा बुरा हाल रहा! मैं तुमसे बिलग होकर यहाँ आया ही क्यों? क्या आवश्यकता थी! धिक्कार है ऐसी यश-लिप्सा पर! मेरी आँखों पर भी कैसा परदा पड़ गया था। आई० सी० एस० हो कर हजार का कलक्टर होने की अपेक्षा तुम्हारी शीतल गोद में पड़े रहना कितना अधिक सुखद है, क्या मैं इसका अनुभव नहीं करता? पर मैंने कितना कहा, यदि तुम भी साथ चली आतीं तो क्या होता? तुम्हारे अनुकूल खान-पान यहाँ सुलभ नहीं, यही न? इस ही से मुझे बिलखने को छोड़ दिया और स्वयं भी घुली जा रही हो! माँ की आत्मा का रहस्य जिसे वह स्वयं ही न नाप सकी, आज तक कौन जान सका है?

पर अब हो ही क्या सकता है ! हजारों मील मेरे और तुम्हारे बीच में पड़े हुए हैं ! कितने ही समुद्र हमें दूर किये हुए हैं । तुम समझती होगी कि यहाँ की रौनक, कॉलेज के व्यस्त जीवन तथा आकर्षक पदार्थ-वाद में मैं अपना जी बहला सकूँगा, पर नहीं—यह कभी सम्भव नहीं हो सकता । एकमात्र तुम्हारी स्मृति ही मेरे श्वासों के भार को झेल रही है ।

याद है, एक बार मैं बीमार पड़ गया था । तुम चौदह दिन-रात मेरी खाट के पास ही भूखी-प्यासी बैठी रही थीं ! देवी देवता एक कर डाले थे ! और मुझे मौत के मुँह से खींच लिया था । कहीं यहाँ ऐसा हो जावे तो अपना कौन है, यह भी कभी तुमने सोचा ? मुझसे कोई कह रहा है कि मैंने तुम्हें अकेला छोड़ कर बड़ी भूल की है और इसका कोई विशेष परिणाम हुए बिना नहीं रहेगा, यह मेरी आत्मा की पुकार है । श्रीहरि रक्षा करें ।

इस तरह मैं क्या लिखाई-पढ़ाई करूँगा, समझ में नहीं आता । तुम इसे दुर्बलता कहोगी । परन्तु मैं सत्य कहता हूँ, जिस समय तुम जितने आँसू वहाँ गिराती हो उसी समय वैसी ही सन्तप्तता का अनुभव मैं यहाँ करता हूँ । मेरी आँखों के सामने तुम्हारा पल-पल का सुख-दुख साकार होकर थिरकता रहता है । मेरी समझ में इसका एकमात्र कारण हमारी आत्माओं की अभिन्नता है ! तुमने एक बार कहा था—'बच्चा माँ की आत्मा का टुकड़ा है ।' आज उस कथन की सत्यता का यथार्थ अनुभव हो रहा है ।

मैं मानूँ या नहीं, इससे क्या ? तुम ने अपने खून से सींच-सींच कर मुझे पोसा है, मेरे लिये सनसनाती रात्रियों को कुछ नहीं समझा है । सुख और आराम की कभी कल्पना तक न की !

मुझे जन्म देने वाली माँ की आकृति तक का स्मरण नहीं, फिर तुम सौतेली कैसी ? जब से चलने-फिरने लगा हूँ देखा है तो तुम्हें, लाड़-प्यार पाया है तो तुम्हारा, रूठा हूँ तो तुमसे, झगड़ा किया तो

तुमसे, नित्य नया दुख दिया तो तुम्हें। मैं और किसी को जानता ही कब हूँ? सब के कहने पर भी श्रीकृष्ण यह नहीं समझ सके थे कि वे देवकी के पुत्र थे! उन्हें यशोदा का वात्सल्य ही आजन्म याद आता रहा। यद्यपि परिस्थितियों के चक्र के कारण उनके जीवन का बड़ा भाग यशोदा से दूर ही बीता। हम इस संसार के प्राणी हैं; परन्तु क्या मैं अब तुम्हारी पावन गोद से सदा दूर ही रहूँगा? नहीं, मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता!

सुबह ही यहाँ पहुँचा हूँ। यहाँ का संक्षिप्त वर्णन अगले पत्र में लिखूँगा।

तुम्हारा पुत्र

माधव

... ...

बम्बई

१८ अगस्त......!

प्रिय पुत्र,

अभी तुम्हारा पत्र मिला और मैं उत्तर लिखने भी बैठ गई। मेरी तत्परता तो देखो! परन्तु जाने क्यों मेरा जी बैठता जाता है? मैं तुम्हें लिखूँ और तुम्हारा उत्तर पढ़ लिया करूँ। इस टाइम-टेबल पर ही तो इस जीवन का धक्का नहीं धकाया जा सकता। तुम कब तक लौटोगे? प्रतीक्षा की कोई सीमा भी तो हो! तुम यदि समझ सको तो मैं एक वाक्य में कहूँगी कि माता का हृदय ही आँसुओं से बना है। जिसका कण-कण किसी के हर्ष-शोक, हित-अहित के साथ बिंधा हुआ है, उसका शान्त व सुखी रह सकना असम्भव नहीं तो कम कठिन भी नहीं है।

कभी मैं विचार करती हूँ--क्या वास्तव में मैं भक्त हूँ? धर्म के प्रति मेरा अनुराग और भगवान के प्रति मेरी सच्ची आसक्ति है? यद्यपि मेरे जीवन का एकमात्र यही उद्देश रहा है और मेरी आत्मा सदैव इसी साधना में तल्लीन रही है, परन्तु आज मैं इस स्थान पर

स्वयं को यत्किञ्चित शिथिल सा पाती हूँ। एक प्रकार मैं उस वस्तु से तो विरक्त हो ही गयी हूँ जिसे 'संसार' कहते हैं। फिर भी मेरे प्यारे बच्चे! जो प्रेम मैं संसार को नहीं देती वह तुम्हें देती हूँ। इसलिये यह कहना कि मैं विरक्ति-मार्ग में हूँ, कठिन है। कारण तुम जानते हो भक्ति-पथ-भगवान् की आसक्ति का पथ कुछ अंश तक आत्म-परित्याग के मार्ग से होकर जाता है। आत्म-परित्याग के उस पथ में हमें अपने हृदय की सबसे प्यारी वस्तु का भी त्याग करना चाहिये!

परन्तु, सोचो तो सही, कहीं वस्तु से उसका अंश भी अलग हो सकता है? आत्मा से आत्मज का पृथक् होना सम्भव भी है? सच तो यह है कि मैं तुझसे कभी दूर हो ही नहीं सकती!

जीवन में कितने ही सुख-दुख आये। मैंने तेरा मुँह देख कर सबको हँसते-खेलते झेला। परन्तु आज तेरे वियोग की तीक्ष्णता को सहने के लिये मेरे पास कोई भी उपादान नहीं है। मेरी स्थिति पागलों की सी होती जा रही है। और किसी प्रकार भी यह समझ में नहीं आ रहा है कि मैं किस मार्ग का आश्रय लूँ?

किसी के दुख में सान्त्वना दे देना बहुत सरल कार्य है, परन्तु जब स्वयं पर बीतती है तब ही स्थिति का ज्ञान होता है। दुनियाँ कहती है कि मोह-ममता में नहीं बँधना चाहिये। सम्भव है यह ठीक भी हो। परन्तु जहाँ मैं तुम्हारी स्मृति से अवकाश सा ले क्षण भर भी और किसी विचार में अपने दुख को भुला देने का यत्न करती हूँ, वहीं तुम मेरी पलकों पर और भी ऊँचे-ऊँचे झोटे लेकर झूलने लगते हो। दृष्टि का एकमात्र केन्द्र बन जाते हो! जहाँ दिखलाई पड़ते हो, तुम्हीं, जहाँ सुनाई पड़ती हैं तुम्हारी बातें, कर्ण-कुहरों में गूँज उठती हैं वही चिर-परिचित स्वर-लहरी, मानो भीगी आँखें लिये कातर कण्ठ से कह रहे हो 'माँ! माँ!!' मुझे अपने से दूर न करो। मैं हाथ बढ़ा ज्यों-ही तुम्हें छाती से लगाने के अभिप्राय से आगे आती हूँ कि तुम सहसा विलीन हो जाते हो। मैं स्तम्भित-सी रह कर दुख और

पश्चाताप में डूबी निःश्वास की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनती हूँ 'यह सब सपना है !'

कभी घर में 'बेटा, बेटा !! यहाँ आओ न !' का अवरुद्ध कण्ठ से निकला हुआ स्वर अर्द्धरात्रि की नीरवता को भंग कर देता है। मैं हड़बड़ा कर उठ बैठती हूँ कि कहीं तुम आ तो नहीं गये ! परन्तु कुछ क्षण पश्चात् चित्त स्थिर होने पर विचार आता है 'वह तो विलायत गया है न !' और तब कटे वृक्ष की भाँति मैं बिस्तर पर गिर पड़ती हूँ ।

कभी पिछली रात में हाथों से टटोल कर देखने लगती हूँ कि वह अच्छी तरह ओढे तो है न ! उसे कहीं शीत न लग जावे ! परन्तु सूना धरातल जैसे उल्टा धक्का देता है। मैं कुछ तो अपने अविचार पर खिसियानी-सी और कुछ अपने दुर्भाग्य पर अत्यन्त ही सन्तप्त हो चोट खाई हुई कपोती की भाँति रह जाती हूँ। कभी बड़ी देर तक घड़ी के काँटो को अत्यन्त ही व्यग्रतापूर्वक आशा और उत्सुकता भरे नयनों से देखती रहती हूँ। अब नहीं तो तब वह अवश्य ही आ रहा होगा ! अकेला रहना तो वह कभी जानता ही नहीं। इतने दिन हुए, घर भला या कॉलेज भला ! कई बार कहा भी 'भय्या ! घर में ही क्या पड़े रहते हो, कहीं घूम फिर आया करो !' परन्तु जैसे पाँव ही नहीं उठता। कभी गया भी तो घंटे आध घंटे में फिर वही घर। झुंझलाकर कह देता 'जाऊँ भी कहाँ ?' और मुझे क्रोधित-सा देख दोनों हाथ गले में डाल बच्चे की भाँति ठुनकने लगता 'ऊँ···ऊँ···!'

'नहीं, वह जल्दी आने को कह गया है। वह आने ही वाला है। थोड़ी सी देर और है, वह आयेगा ! और अवश्य आयेगा। भला वह अपनी निराश्रित तथा निरवलम्ब माँ को कहीं अकेला छोड़ सकता है······?' और मेरी विचार-धारा तब टूटती है जब घना अँधेरा छा

जाता है और कोई प्राणों में चीत्कार मचाता हुआ कह उठता है 'वह नहीं आया।'

इधर मेरी तबियत भी दिन पर दिन गिरती जा रही है। दूसरे यह निश्चित है कि मेरे इन पत्रों से तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई में, जो तुम्हारे वहाँ रहने का मुख्य ध्येय है, केवल बाधा ही उपस्थित न होगी, प्रत्युत तुम कुछ न सीख सकोगे! तुम्हें अपनी आँखों के सामने तो इसलिये न रख सकी कि तुम उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सको, और अब इन बातों से अपने ही हाथों तुम्हारी जड़ काटूँ? इन कोमल भावों का तुम्हारे नन्हें हृदय पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या मैं इसका अनुमान नहीं लगा सकती?

मैं बहुत चाहती हूँ कि पत्र में केवल कुशल-क्षेम का समाचार दूँ, परन्तु भूल सी जाती हूँ!

तुम मेरे हो इसलिये तुम्हारा हित-एकमात्र तुम्हारा हित ही मुझे अभीष्ट है, चाहे इसके लिये मुझे अपनी बड़ी से बड़ी वस्तु का ही बलिदान क्यों न करना पड़े?

तुम न समझ सकोगे कि पत्र तक के रूप में तुम से अपने हृदय को दूर रख कर मैं कितनी पीड़ित रहूँगी? मेरे आधारहीन जीवन पर इसका जाने क्या प्रभाव पड़े। पर मेरे प्यारे बच्चे! हम दोनों के सुख से भी बहुत आगे केवल तुम्हारे हित के लिये मैं सब कुछ सहूँगी! कर्तव्य-पालन मेरा पहिला धर्म है। फिर कुछ और! प्रत्येक पल झरती हुई ये नासमझ आँखें मुझे जरा भी चैन नहीं लेने देतीं और कोई ध्वनि मानों मुझे आदेश दे रही है कि कदाचित् यह मेरा अन्तिम पत्र है। ईश्वर तुम्हारा मंगल करे। अच्छे-अच्छे रहना बेटा! संसार निरन्तर रोने-धोने का ही स्थान नहीं है। अच्छा! अब विदा दो! बहुत बहुत प्यार!!!

तुम्हारी माँ

... ...

लएडन
३ सितम्बर……!

मेरी माँ !

कल कॉलेज से लौटते ही तुम्हारा पत्र मिला। दो-चार-छः-आठ नहीं पूरे बीस बार पढ़ चुका हूँ। केवल इसलिये नहीं कि उसके अक्षर-अक्षर में माँ का पावन-प्यार छलक रहा है, अपितु मुझे कर्त्तव्य-निर्धारण में एकमात्र वही सहायक है। तुम्ही कहो और किससे क्षण-क्षण पर उमड़ने वाली अशान्ति की औषधि पूछूँ ?

संसार का कोई भी पदार्थ चिरस्थायी तो है नहीं, फिर विधाता ने एक दूसरे में अधिक से अधिक ममता की सृष्टि क्यों की ? और सो भी उसका अन्त केवल दुःखमय ही किया, यह सब क्यों ?

मेरा जी भी उथला पड़ता है। हजारों विचार आते हैं।

सोचता हूँ वास्तविक दृष्टि से तो मैं मातृहीन हो ही गया था। फिर ईश्वर ने मुझ अभागे को महा-माता की गोद से सौभाग्यान्वित किया, मेरे जीवन में भी जीवन डाला। पूर्व-जन्म में जाने क्या सुकृत किया था कि तुम्हारा प्यार मिला। इतना सब होने पर भी मैं तुमसे दूर कर दिया गया। क्या यही उसका न्याय है ? मैंने कब उससे भिक्षा माँगी थी ? कि मुझे माँ दे ही। जब उसने स्वयं ही कृपा की थी तब इतना दुखद अंत तो नहीं बनना था। मेरा सदैव विश्वास रहा है कि जो परमात्मा करता है, अच्छा करता है, बहुत अच्छा करता है। कदाचित् उससे अच्छा हो ही नहीं सकता। परन्तु आज मेरा निश्चय डगमगा रहा है। तुम्ही कहो क्या उसने यह अच्छा किया ? यदि हमें कोई वस्तु प्राप्त ही न हो सके तो उसका अभाव कुछ ही दिन साधारण रूप से भले खटके, परन्तु शनैः शनैः हम इसके बिना ही अपना नियमित जीवन संचालित करने लगते हैं। इस में हमें यत्किंचित कठिनाई भी प्रतीत नहीं होती। यह नहीं ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, हम उसको सर्वथा भूलते ही जाते हैं। इसका

एकमात्र कारण यही है कि हमें उसका संसर्ग तो प्राप्त है नहीं। अतएव हम उसके गुण, व्यवहार आदि के विषय में कोई ज्ञान भी नहीं रखते। परन्तु जिसके सम्पर्क का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ हो, जिसके सद्भाव, जिसका स्नेह हमारे हृदय-दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए हों, जिससे हमारी आकांक्षाओं का आदान-प्रदान हुआ हो, जो हमारे जीवन के अत्यन्त ही निकट आ गया हो और जिसके साथ प्राणों की मादक रागनी, अनन्त ऐक्य का अनुभव कर रही हो, वह यदि हर्ष की बेसुध पराकाष्ठा पर अपने से विलग हो जाय तो वेदना की क्या सीमा है ? फिर जब वह क्षण-क्षण हमारे सामने ही रहा हो तब तो यह बिछोह कितना पीड़क, कितना दुःसह, कितना विद्रोही तथा कितना पागल होता है, इसकी कल्पना भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। रह-रह कर उसकी आकृति पुतलियों में नाच उठती है; पल-पल पर उसकी बातें कानों में गूँज उठती हैं; हृदय धड़कता है, आँखें भर-भर आती हैं और प्राणों में एक ऐसा बवण्डर उठता है जो क्षण भर भी शान्त नहीं रहने देता। फिर यदि इस सब से परे निर्मल आत्मा का एकमात्र अलौकिक व्यापार हो तब तो उस दशा का कहना ही क्या है ? यह स्थिति लाखों-करोड़ों में किसी विरले को ही सौभाग्य से प्राप्त होती है। पर सोचिए उसकी वेदना, विचार तो कीजिये उसके अधैर्य का। वह करे भी तो क्या ? किसी दरिद्री ने रत्न देखा ही नहीं हो उसके लिए उसकी विकलता क्षणिक होगी। पर जिसने उसे पाया ही नहीं, अपितु उसके प्रकाश, गुण, चमत्कार आदि से पूरा-पूरा लाभ भी उठाया, उसके अपरिमित मूल्य को भी आंका, उसके होने से अपने को महाधनी मान सदैव गर्व किया, जिससे उसकी आत्मा, मन, शरीर सब ही, सदैव ही प्रफुल्लित रहे, एकमात्र जिसके कारण ही वह सर्व-साधारण की दृष्टि में अत्युच्च ठहरा, उसे यदि वह किसी अन्य साधारण पदार्थ की प्राप्ति के मोह में खो दे तो उस-सा अभागा कौन होगा ? उसकी सन्तप्तता का क्या अनुमान लगाया जा सकता है ? कुछ न

मिलने की अपेक्षा किसी को पाकर खो देना, सो भी किसी महान् वस्तु को, कितना दुःखदाई है ?

आई० सी० एस० की चकाचौंध में मैं अपनी माता को कहाँ छोड़ आया ? सोचो तो, आज तुमसे दूर होकर मेरा क्या हाल हो रहा होगा ? कॉलिज से लौटा, धम्म से चारपाई पर पड़ रहता हूँ। कब संध्या हुई, कब रात्रि की घड़ियाँ बीतीं ? कब पक्षी चहके, कब उषा छिटकी ? मैं कुछ भी तो नहीं जानता। होटल वाला अलग झींकता था। गत मास में मैं कुल नौ बार भोजन को गया। संसार मेरी दशा पर हँसता है। पर मैं रोता हूँ। सिनेमा, नाटक, पार्टी तो दूर रही, मैंने यहाँ के मुख्य स्थान तक नहीं देखे। केवल घर से कॉलेज तक की राह जानता हूँ। सच तो यह है कि मैं अपनी माँ के बिना एक क्षण भी रह ही नहीं सकता।

इधर तुम्हारी स्थिति पढ़कर तो मैं सन्न हो गया हूँ यदि केवल मैं ही दुखी होता तब भी सीमा थी। मैं कैसे भी सहता रहता। परन्तु जब वह माधव की माँ के प्राणों का प्रश्न बन गया है तब भी यह मूढ़ विचार ही करता रहे ? जिसने घोर संकट और विपत्तियों से मेरा उद्धार किया, जब मैं चारों ओर से निराश तथा उदास था तब मुझे पथ दिखलाया, निविड अन्धकार में प्रकाश की सृष्टि की, जिसने मेरे हेतु अपने जीवन का उत्सर्ग किया, मैं उसको इस अवस्था में सहज ही छोड़ कर चला आया ? मुझ सा पापी और कौन होगा ? जब भी मैंने माँ कह कर पुकारा, कभी पुकार व्यर्थ न गई। उसने न सुना हो अथवा सुनते ही वह दौड़ी हुई न आई हो ऐसा कभी हुआ ही नहीं। जब कभी जिस स्थिति में भी पुकारा, तत्क्षण ही नूपुरों का स्वर सुनाई पड़ा, मानो पुकारने भर की देर थी। इस समय की उसकी शंकित तथा करुण मुद्रा और उसके हृदय की असीम वात्सल्य-वेदना......। मुझे चक्कर आ रहा है। जिसने क्रोध को तो कभी फटकने नहीं दिया,

जो झूठे को भी कभी रूठी नहीं, सदा मेरे सुख में ही संलग्न रही ऐसी माँ को मैं कैसे छोड़ सका ? छिः । कृतघ्न माधव ! जब तक प्रायश्चित्त न कर लूँगा, मुझे शान्ति न मिलेगी । अज्ञ संसार कर्तव्यहीन कहे, मुझे इसकी परवाह नहीं । परन्तु मैं कल के जहाज से अवश्य ही माँ की गोद में फुदकने के लिये अपनी मातृभूमि को रवाना हो जाऊँगा । संसार की कोई शक्ति मुझे अपने निश्चय से डिगा नहीं सकती । जगन्नियन्ता से इतनी ही प्रार्थना है कि मेरे किसी पूर्व-जन्म के पुण्य के फल–स्वरूप, कम से कम जब तक मैं न पहुँच जाऊँ मेरी माँ, मेरे प्राणों का आधार सकुशल रहे । मुझे विश्वास है वह मेरी प्रार्थना अवश्य सुनेगा । मैंने आज तक कभी किसी का बुरा नहीं चीता, अनजाने में भी किसी का जी नहीं दुखाया । क्या वह मेरी इतनी सी विनय भी स्वीकार न करेगा ? नहीं, यह हो ही नहीं सकता ।

तुम मेरे इस कार्य पर न अप्रसन्न ही होना, न कुछ कहना ही, तुम्हें मेरी कसम है । विचार तो करो, माँ कोई कविता की पुस्तक तो है नहीं जो दैवात् एक खो भी जावे तो और एक मिल जावेगी । अब दुःख का कोई कारण नहीं है । यह हवाई डाक का पत्र तुम्हें शीघ्र मिल जावेगा और मैं सोलह तारीख को आ पहुँचूँगा । अच्छी-अच्छी चीजें बना रखना और टैक्सी पर बन्दरगाह अवश्य आना । आने की प्रसन्नता में पल-पल भारी हो रहा है । कल तक भी समय जाने कैसे कटेगा ? बहुत-सी बातें हैं, वहीं कहूँगा ।

आशीर्वाद दो कि यह यात्रा निर्विघ्न समाप्त कर तुम्हारे श्रीचरणों के शीघ्र दर्शन करूँ ।

तुम्हारा पुत्र

माधव

* * *

बम्बई

माधव भय्या !

यह लिखते हुए मेरी छाती फटी जाती है कि ग्यारह सितम्बर की संध्या को पाँच बजे तुम्हारी माता जी का देहावसान हो गया। वैसे तो जब से तुम गए, वे घुलती ही गईं। परन्तु गत मास से उनकी हालत बहुत ही बिगड़ती गई। मैंने कई बार तुम्हें पत्र लिखने को कहा, परन्तु वे सदा यह कह कर ही टालती रहीं कि उसकी पढ़ाई में हर्ज होगा, मैं अच्छी हूँ। हम सबने काफी सेवा सुश्रूषा की, परन्तु ईश्वर के आगे किसका चारा है ? अन्तिम समय तक तुम्हारा नाम उनकी जिह्वा पर था। तुम्हारा तीन तारीख का भेजा हुआ पत्र उनकी छाती से लगा पाया गया। तुम्हारी याद को वे उस लोक में भी अपने साथ ले गई हैं। आशा है तुम धैर्य धारण करोगे। इसके सिवाय अब उपाय भी क्या है। जन्म भर किसके माता-पिता बैठे रहते हैं। तुम्हारी माँ निस्सन्देह देवी थीं। उनके लिए बच्चा-बच्चा आँसू बहा रहा है।

तुम्हारी पड़ोसिन बहन
सरोज

... ...

बम्बई फोर्ट
१२ सितम्बर......।

सेवा में,

श्रीयुत माधवप्रसाद एम० ए० की माताजी,
विलेपारले,
बम्बई

श्रीमतीजी !

हमें अत्यन्त ही दुख के साथ सूचित करना पड़ता है कि आपके पुत्र मिस्टर माधवप्रसाद एम० ए० जो गत चार सितम्बर को

हमारे लण्डन स्थित जहाज से भारतवर्ष के लिए रवाना हुए थे, ग्यारह सितम्बर की सन्ध्या को पाँच बजे जहाज नष्ट हो जाने से डूब गए। हमने यात्रियों तथा जहाज की रक्षा के लिये कोई यत्न उठा नहीं रक्खा, परन्तु बहुत कम व्यक्ति ही बचाये जा सके। खेद है कि आपके पुत्र उनमें नहीं हैं। हमें आपकी वेदना के साथ हार्दिक सहानुभूति है।

यह समाचार हाल ही में बेतार के तार द्वारा मिला है।

भवदीय

जे० कारसन

मैनेजर पी० एण्ड ओ० सर्विस

बॉम्बे पोर्ट।

शोभा

शोभा सो कर उठी तो देखा बापू रुग्ण हैं। निम्न मध्य वर्ग में जो चिकित्सा सुलभ और सम्भव थी हुई पर वे न बचे। इसे विधि-विधान कहें या वज्रपात। छोटी-बड़ी छः लड़कियाँ और कायस्थ वंश जो कान्यकुब्जों की भाँति दहेज के लिए प्रसिद्ध है। शोभा सबसे बड़ी थी। वह स्तब्ध रह गई कि अब क्या होगा। किसी अप्रत्याशित घटना के प्रहार से जो उद्विग्नता और अधैर्य आ घेरता है वह टकराने लगा। एक बार तो वह ऐसी आहत हो उठी कि आत्महत्या कर ले पर और सब का क्या होगा यह विचार घुमड़ उठा। पलायन ही यदि जीवन के संघर्ष की औषधि हो तो फिर कर्मयोग का क्या महत्व है। जीवन की लम्बी यात्रा में संघर्ष आएँ ही नहीं यह कैसे हो सकता है? और यदि हो भी तो ऐसे जीवन का महत्व और आनन्द भी क्या। हर प्रश्न का उत्तर खोजना यही सफलता का मार्ग है। शोभा ने सोचा कि यदि वह भाग्य से युवक होती तो क्या करती, क्या वह नहीं कमाती, क्या वह इस विपन्न परिवार का पोषण नहीं करती, क्या वह यश और पुरुषार्थ का शंखनाद नहीं करती? फिर आज की और उस दशा में ऐसा अन्तर ही क्या है? उसकी आँखें एक आह्लाद से उद्दीप्त हो उठीं। उसने माँ से जा कर कहा कि घबराने की आवश्यकता नहीं है। मैं सब कुछ करूँगी और थोड़े ही प्रयत्न से वह स्थानीय शाला में अध्यापिका हो गई।

उदर-पोषण की समस्या से किञ्चित् आश्वस्त हो उसने अपनी

विचारधारा को नया विस्तार दिया। वह जानती थी कि यौवन का उद्रेक भी सहज उपेक्षणीय समस्या नहीं, प्रेम का और उस से भी महत्तर विवाह का प्रश्न सामने आ सकता है पर उसे उससे ऊपर उठना होगा। व्यक्तिगत सुख और सुविधा पर क्या वह माता और पाँच बहिनों की बलि दे देगी? यह भला कैसे हो सकता है। व्यक्ति के सुख से परिवार का सुख बड़ा है। वह अपने से संघर्ष करेगी और त्याग तथा बलिदान के पथ को ही प्रशस्त करेगी। साधना की गहनता क्या हर किसी की सम्पत्ति हो सकती है?

ट्यूशन के सम्बन्ध में शोभा को विकास-विभाग के एक अधिकारी के यहाँ जाना पड़ा और उसे आश्चर्य हुआ कि उनने उसे अधिक द्रव्य देना निश्चित् किया है। उसके मन में खटका हुआ कि कहीं वह नारी है इसी का तो अभिशाप यह नहीं पर वह इसे भूल गई। दो-तीन मास बाद उसे भोजन पर निमंत्रित किया गया तब उसका माथा ठनका पर वह सहज चली गई और इस घटना को भी भूल गई। कुछ दिन बाद अधिकारी की पत्नी ने उससे पिक्चर का अनुरोध किया, उसने वह भी मान लिया। एक दिन जब वह पढ़ाने पहुँची तो अधिकारी महोदय घर पर अकेले थे। वह सदा की भाँति अन्दर चली गई और जब वापिस चलने लगी तो उनने रोक कर कहा—'बैठिए, अपने रुपए तो लेती जाइये!' फिर पास आकर बोले, 'अब कब तक यों दूर रहना पड़ेगा?' 'आप गलत सोच रहे हैं, महोदय!' और वह एकदम चल दी।

नारी का रूप और यौवन क्या इसी तरह बिकने की वस्तु है? क्या उसे सहज और सुलभ भाव से जीने का अधिकार नहीं? उसके लिए राह चलना कठिन है। मानो अपनी दृष्टि से लोग उसे पी जाना चाहते हैं। कितने भी सादे वेश में रहे पर संसार मानो उसका शत्रु है पर उसे जीना तो है ही। विश्व की विचित्रता में नारी कब

तक भटकेगी ? पर उसे मानो आज तक नारी जाति पर किए अत्या-चारों का बदला लेना है। वह दुर्गा, भवानी बन कर जिएगी, वह मानो शंखनाद कर नारी जाति को जगावेगी। वह जीवन के इतिहास को बदल देगी। वह सिद्ध कर देगी कि इस पुरुषबहुल समाज में नारी भी समान अधिकार से जी सकती है। विवेक उसका पथ-प्रदर्शक है तथा आचरण की प्रतिष्ठा उसका आधार-स्तम्भ। वह युग की वेदी पर अपने व्यक्तित्व की प्राण-प्रतिष्ठा करेगी एवं जीवन को विधाता की अमूल्य धरोहर मान कर उसका गौरव स्थापित करेगी।

शोभा इन विचारों से उत्प्रेरित हो आगे बढ़ी। उसने अपनी बहिनों की शिक्षा का दायित्व अपने कंधों पर लिया और उसमें जुट गई। अधिक परिश्रम कर उसने अपनी बहिनों के विवाह का प्रबन्ध किया और इसके बाद एक संतोष की साँस ली। माँ-बेटी रहने लगीं। माँ ने बहुत चाहा पर वह नहीं झुकी और उसने अपना विवाह नहीं किया। माँ को आश्वस्त किया कि वह उस मिट्टी की नहीं बनी है जो प्रसरणशील पथ पर डिग जाते हैं। वासना के उन्नयन के लिए उसने समाज-सेवा को अपनाया। शिक्षक संघ की अध्यक्ष हो गई तथा प्रजा समाजवादी पार्टी में भी काम करने लगी।

समय ने करवट बदली और एक दिन माँ भी चल बसीं। उसे ठेस गहरी लगी पर उसने मन को पुनः आश्वस्त किया और विचार किया कि यह तो एक दिन होना ही था इससे भी विचलित न होगी और स्वयं अपना कवच बन जाएगी। अग्नि-परीक्षा का वास्तविक समय तो अब आया है, अब उसे और ऊपर उठना है। अब वह अपना सारा समय समाज-सेवा में देने लगी।

उसका बचपन कब वृद्ध हो गया यह वह नहीं जान सकी। उसे लगा कि जीवन का वह जादू, जिसको ले वह किसी पर आसक्त हो या कोई उस पर आसक्त हो मानो खो गया है। अब उसका पुनर्जीवन नहीं

हो सकता फिर भी एक युवक उसे अच्छा लगने लगा, वह उसकी ओर खिंचती गई, अनजाने में, पर अब इसे वह भूल नहीं समझती थी क्योंकि अपने दायित्व से वह ऊपर उठ चुकी थी। मन ही मन वह कुछ अधिक प्रसन्न रहने लगी तथा जीवन भी रसपूर्ण होता है इसका उसे पहली बार अनुभव हुआ और अपने ऊपर झुँझलाई-सी वह उठ खड़ी हुई।

उसने दो रात जग कर अपने प्रिय को पत्र लिखा और खिल उठी। उसे डाक में डाल उसे एक नई स्फूर्ति का अनुभव हुआ। राह देखती रही उत्तर की और आश्चर्य का यह प्रयोग कि उत्तर आ भी गया। उत्तर-प्रत्युत्तर के साथ मिलन-पुनर्मिलन की बाढ़ सी आ गई और उसे अनुभव होने लगा कि वह उस व्यक्ति के बिना नहीं रह सकती। अन्त में विवाह के सूत्र में बँध कर वह धन्य हो उठी।

बोली एक दिन अपने पति से कि उसने विवाह न करने की मानो शपथ लेली थी पर यह सब कैसे हो गया इसे वह स्वयं नहीं जानती। मनुष्य भी बड़ा विचित्र जंतु है। वह किस समय क्या कर बैठेगा इसका कुछ पता नहीं चलता। स्नेह की बुभुक्षा व्यक्ति को कब उन्मत्त नहीं बनाती? व्यक्ति कितना भी संघर्ष करे जीवन के स्वाभाविक सत्यों के ऊपर उठना संभव नहीं!

देह के बन्धन

जीवन के अभिशापों और हाहाकारों से सन्तप्त निराधार मन, निष्प्राण देह और चेतनाहीन आत्मा में नीरवता फूँकता हुआ वह अभागा भटक रहा था उसी निर्जन सरोवर की ओर जहाँ की लहरें कई बार कवि के आँसुओं का आलिंगन कर चुकी थीं। दुर्भाग्य की तरह रात भी काली थी जिसकी तहों को चीरता वह डग बढ़ाए चला जा रहा था। इस भयंकर बर्फीले समय किसकी हिम्मत जो हिल भी सके परन्तु उसकी गति में निश्चित लक्ष्य का आभास था और हृदय में थी एक बोझिल भटकन।

टकराते, लड़खड़ाते वह पहुँच ही तो गया उस ठौर और जा बैठा अपने पूर्वपरिचित चबूतरे पर। डेढ़-दो बजे थे, साँय-साँय बिखर रही थी। बैठा रहा दो-चार मिनिट तो वह मौन ही फिर एक साथ ही फूट-फूट कर रोने लगा। जब खूब दिल भर गया तो आकाश की ओर सिर उठा कर बोला—'हे ईश्वर! यदि तू कृपालु है, अगर तेरे यहाँ न्याय है तो अब भी सुन। युग बीत चले, नित्य तेरे द्वार पर बिलख-बिलख कर एक ही वस्तु माँगता हूँ, एक ही। तू सब की पुकार सुनता है, सबको देता है फिर मैं ही क्यों निराश रहूँ। मुझे मृत्यु चाहिए, शान्तिदायिनी, शीतल, दे दे प्रभु!'

और सिर पर हाथ लगा स्तब्ध हो रहा। थोड़े ही समय में क्या देखता है कि कोई उसे झकझोर रहा है। वह हड़बड़ा कर उठा और आँखें मसलने लगा जैसे कोई स्वप्न देख रहा हो।

बिखरी केशराशि, सुन्दर मुखमण्डल, लावण्य की जीती-जागती मूर्ति एक देवी !—यहाँ, इस अर्द्धरात्रि में ? क्यों ? वह मानो सचेष्ट होने का यत्न करने लगा। फिर टकटकी लगा देखता रहा। भग्न शून्यता पलकों में नाच रही थी। अन्त में उस नारी ही ने मौन भंग किया—

'मैंने अपराध किया है कवि ! मुझे दण्ड दो पर मैं न रह सकी। कितनी रातें न बीतीं। मैंने निरन्तर तुम्हारा एकाकी प्रलाप सुना है और दंग रह गई हूँ पर मैं स्वयं पर नियन्त्रण किए रही। आज जब किसी तरह जी न माना तो प्रकट हो गई हूँ। वेदना तुम्हारी ! तुम क्यों दुखी हो ? मैं, मैं और वह फूट-फूट कर रोने लगी।

वह पहेली सा शून्य रह गया। क्या करे ?

'सुनिए, सुनिए आप' बोला वह।

'जी'

'सुख पाना भी कोई हाथ की बात है क्या ? मैं दुखी हूँ क्योंकि मेरे भाग्य में दुख है।'

'क्या आप भाग्य पर विश्वास करते हैं ?'

'भाग्य तो मुझ पर विश्वास करता है।'

'जहाँ आपके शब्दों में संसार शान्ति पाता है वहीं आप स्वयं तक को धैर्य नहीं दे सकते। इसका क्या कारण है ?'

'वह तो एक उन्माद है देवि ! भावना के कोने से तूफान शब्दों से समझौता कर उमड़ पड़ते हैं, मैं नहीं जानता। दुःख जब बहुत असह्य हो उठता है तो आँसू या शब्दों में बिखर जाता है। आँसू चुन नहीं पाता एतदर्थ वे उद्गार ही मेरी दुःखभरी जीवन-यात्रा के मील के पत्थर हैं। उन्हें मेरे जीवन की कमाई समझो। जब मैं लिख चुकता हूँ तो मेरे शब्द मुझको सबसे अधिक सान्त्वना देते हैं। यही उनका रहस्य है।

'मैंने तो सुना तक नहीं कि मृत्यु को कोई इतनी ईमानदारी से नित्य माँगता हो।'

'विचित्रता ही तो जीवन का आकर्षण है। अर्धरात्रि में किसी अपरिचित स्त्री का किसी अज्ञात पुरुष के साथ सुनसान में बैठना पहिले कभी सुना है आपने ?'

एक हल्की-सी लाली उसके अधरों पर नाच उठी पर थी वह मौन।

'कहिए न।'

'आप विद्वान हैं, मैं अपढ़ स्त्री पर यह अच्छा नहीं है। क्या जीवन में आपने कभी किसी को चाहा है और वह आपको नहीं मिला ?'

'मृत्यु और मृत्यु केवल।'

'आप ईश्वर का निरादर कर रहे हैं। क्या सृष्टि में कोई भी इस योग्य नहीं जो आपको जीने का बल दे सके।'

'मैं स्वयं ही इस योग्य नहीं हूँ।'

'किसी ने प्रेम करके आपसे घृणा तो नहीं की ?'

'मैं ही संसार से घृणा करता हूँ फिर प्रेम का प्रश्न ही क्या रहा ?'

'आप स्वयं ईश्वर के भिखारी हैं इसलिए आप से कोई कुछ चाहे तो आप उसे निराश तो न करेंगे ?'

'मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ ?'

'आप तो एक निर्लिप्त व्यक्ति हैं। मेरी आत्मा का अनुरोध है कि आपके चरणों में रहूँ, बस यही !'

'तुम अपना जीवन नष्ट करोगी यही दुःख है। ज्वालामुखी पर रह किसे शान्ति मिल सकती है ?'

... ...

कवि और नारी वस्तु एवं प्रतिच्छाया की भाँति साथ रहने लगे। वह वीतराग था और वह लुब्धक सी। उसे अभिमान था कि वह संसार छोड़ चुका है, वह कहीं भी नहीं फिसल सकता। वह भी नहीं भूली थी कि सेविका बन कर उसने इस साम्राज्य में प्रवेश किया है। शनैः शनैः वह तरङ्गों में ही बह रही है, स्वयं को भूल रही है या किसी और को भुलावे में डाल रही है। रह-रह कर सोचती रही वह कि कुछ न चाहे, किसी की चाह पर न्यौछावर भर होती रहे, किसी के अभाव में अपने अस्तित्व को मिटा दे। वह महान है, वह उदार है, वह दाता है पर समय की अठखेलियाँ उसे विपथ करती गईं। उसमें एक अपूर्व ज्वार-भाटा उठने लगा कि सर्वप्रथम मानवी है वह फिर कुछ और। उसके जीवन का एक केन्द्र है, केवल एक। फिर अपने में बरबस घुटघुटाने वाली लालसा वह हजार यत्न करके भी कहाँ ले जा सकेगी? उसके लिए क्या और स्थल खोजेगी? नारी का अन्तर और बाह्य एकोन्मुख होकर ही जी सकता है, यही उसका विवेक है। देह, मन, प्राण और आत्मसमर्पण के लिए वह ठौर-ठौर नहीं भटक सकती। वह देती है तो सब कुछ और फिर चाहती है तो सब कुछ। इसी पर उसके जीवन का आधार है। इससे परे उसकी स्थिति ही नहीं है। सर्वनाश का स्वयं आलिंगन कर लेती है वह प्रसन्नता से गद्‌गद् होकर।

और तब वह कौतूहल, लज्जा, शील और स्नेह के अंचल में से उझक एक दिन बोली—

'कवि, देह और आत्मा के बन्धनों में कौन दृढ़ और कौन श्रेष्ठ है?'

'देह नश्वर है, आत्मा अमर है। देह केवल परिचय कराती है, उसके परे उसकी कोई स्थिति नहीं। आत्म-साधना ही जीवन का प्रधान लक्ष्य है।'

'फिर देह के विकार निरर्थक हैं क्या ?'

'उन पर विजय पाए बिना जीव आत्म-परिणय के योग्य नहीं होता।'

'आत्मा तो दिखती नहीं फिर प्रत्यक्ष स्थिति वाली देह के धर्म को क्यों मिथ्या समझा जा सकता है ?'

'जो अदृश्य है वही महान है, उसे ही पाना है। यही सिद्ध करता है कि आत्मा परमात्मा का अंश है।'

'पर नारी तो दुर्बल है। वह अपनी देह को कहाँ ले जाय ?'

'स्नेह का मार्ग तो तलवार की धार है। वहाँ दुर्बल का अस्तित्व सुरक्षित नहीं है।'

'तो क्या मेरा जीवन सब तरह नष्ट हुआ ?'

'मैं समझा नहीं' कवि बोला।

'स्पष्ट यह कि क्या मैं आपको प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं हूँ ?'

और कवि की आँखों से मानो एक परदा हटा।

'मुझे, मेरे शरीर को, हाँ शरीर के लिए सारा संसार आपके समक्ष है। मुझे क्षमा नहीं मिल सकती क्या ?'

'सर्वस्व ले कर अब क्षमा माँगते हो ? यही गति करनी थी तो पहिले ही क्यों नहीं कहा ?'

'मैं ही कब जान सका कि आप भी कुछ चाहेंगी।'

'रहने भी दो मैं अभागिनी हूँ।'

'देवि ! मैं कृतघ्न नहीं हूँ। आपकी कृपा और कष्टों को कभी न भूलूँगा पर उसका इतना मूल्य ?'

'मूल्य नहीं यह मेरी भूख है, मेरी चाह है, मेरा एकमात्र अभाव है। यही नहीं दे सकते तो और मुझे चाहिये ही क्या ?'

'इतनी निर्दय न बनो देवि ! मैं तुम पर श्रद्धा रखता हूँ, तुम्हें नारीत्व का प्रतीक मानता हूँ। इतना बड़ा आघात तो न दो मुझे कि

मैं संसार के साथ ही नारी से भी घृणा करने को बाध्य हो जाऊँ।'

'तो आप संसार और नारी को दो वस्तुएँ मानते हैं।'

'शायद ऐसा ही है।'

'तो आप भूल करते हैं, महाशय! सृष्टि का आदि, मध्य, अन्त और मूल नारी ही है। उसे पाने को सुर, असुर, मानव सब सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। आज वह स्वयं आपके चरणों में लोट रही है तो आप उसका तिरस्कार करते हैं?'

'किसी को पाने की इच्छा न होना उसका तिरस्कार तो नहीं है।'

'आप कदाचित् उसकी शक्ति से परिचित नहीं। जहाँ वह प्रेमावेश में प्राण देना जानती है वहीं अपनी इच्छा की पूर्ति न होने पर..........!'

'देवि! मुझे समय दो। कल का सूर्योदय अवश्य तुम्हारी कामना पूर्ण देखेगा।'

रात्रि भर वह विक्षिप्त सी पड़ी रही और प्रातःकाल होते ही उसने सुना कि हृदय की गति सहसा रुक जाने से कवि का देहान्त हो गया।

आँधी

सरदी में सोचा करता था, गरमी कब आएगी। छुट्टी, सैर-सपाटे और मजे पर गरमी ने उल्टा खदेड़ डाला है। दिन भर दड़बे में पसीना टपकाते रहो, कैसा निष्क्रिय जीवन है। राह देखता हूँ, संध्या कब आएगी, शीतल, मादक एवं प्रेरक। दिन छुपते-छुपते चल देता हूँ जरा दूर। मनस्थिति में कुछ तो परिवर्तन ला सकूँ, इसलिए।

इधर शरणार्थियों के आने के बाद प्रत्येक स्थान पर नए कमरे बनते जा रहे हैं। नई सड़क के पास का घूरा भी बदला है। तीन-चार नई दूकानें निकल आई हैं। सामने इमारती लकड़ी की बड़ी दूकान है। पास ही फलों की एक नई दूकान खुली है। अपने जीवन से ऊबा मैं दूसरों की तह खोजता फिरता हूँ। संभव है, वहीं कुछ आश्वासन प्राप्त हो सके।

उस दिन जो घूम कर आ रहा था तो धोबी की नई दूकान के पास तक गया। देखा पाँच बच्चों से घिरी धोबिन फूट-फूट कर रो रही थी। सामने ही कपड़ों के गट्ठे के पास उसका आदमी लेटा हुआ था। रो रो कर वह कहती जाती थी 'आठ बज चुके। बच्चे घण्टों से तड़प रहे हैं। घर में एक दाना नहीं। चूल्हा कैसे जलाऊँ? तुम दिन भर से गड़गप पड़े हो। अब तो उठो। हाय मैं क्या करूँ रे!'

मेरे मन में ऐसा बवण्डर उठा कि मैं यह भी भूल गया कि यहाँ अधिक देर खड़े रहने से मेरे भोजन का ढाबा बन्द हो जावेगा।

वज्राहत सा मैं ठिठका खड़ा रहा। आज यह सारा परिवार भूखा करवटें लेगा और इतना ही क्यों, हमारे देश में कितने अन्य परिवार ऐसे न होंगे ? दिन भर कठोर परिश्रम के बाद भी सूखी रोटियाँ न मिल पाना, कैसी विडम्बना है। इस सब के लिए दोषी कौन है ?

जब खड़े हुए बहुत देर हो गई तो सहसा मुझे एक उपाय सूझ गया और मैंने उस स्त्री को पास बुला कर कहा कि बैंक वाले बाबू ने धुलाई का यह एक रुपया भेजा है और वह कुछ कहे कि मैं तेजी से आगे बढ़ गया।

पर मेरी विचारधारा में यह मंथन निरन्तर चलता ही रहा कि संभव है बात यहीं तक न हो जो मैं देख सका और धोबी-दंपति के बीच गहरा मनमुटाव हो, वह मनुष्य परिश्रम न करता हो और घर की बाहरी-भीतरी स्थिति का सारा दायित्व उस विवश और निरीह स्त्री पर ही लदा हो। वह कर भी क्या सकती है और उसका अभि-योग सुनेगा भी कौन। सुनने वाले के पास कौन-सा स्थाई समाधान है उस समस्या का। स्त्री तो क्रीत सम्पत्ति जो ठहरी, सौदागर जैसा चाहे उसका उपभोग करे।

अपमान और लांछना को निरन्तर सहते रहने का अभिनय ही क्या पतिव्रत्य है ? जो ठोकर तुम्हें धकेलती रहे उसे चूमते जाना कितना बोझिल है, इसे कौन नहीं जानता पर नारी का आदर्श और धर्म ही यह है। कदाचित वह बनाई ही इसीलिए गई है।

मेरे मन में उस परिवार के प्रति सहज उत्सुकता जग उठी और मैं आते-जाते उधर झाँकने का अभ्यस्त हो गया। कभी मैं सोचता कि संसार भर के दुख-दर्द का मैं ठेकेदार तो हूँ नहीं, न सबका इलाज ही मेरे पास है पर भावुकता तर्क को दबोच देती और मैं यथावत् उधर निगाह फेंक देता।

एक दिन मैंने उस धोबिन को पड़ोसिन से बात करते सुना कि इन बच्चों का जाल मेरे सिर न होता तो मैं कभी की अफीम खाकर सो रहती। मेरे वो तो रात-रात भर घर तक आते नहीं और दिन भर अलमस्त पड़े रहते हैं। मैं अकेली कितनी महनत करूँ। एक दिन रोटी न हो तो डंडों से पीटते हैं। इस जिन्दगी से तो मौत सौ बार अच्छी है। और तो और मुझे कभी पीहर तक नहीं जाने देते। मेरी तो इस घर से लाश ही निकलेगी।

और तब मैंने जाना कि मेरी कल्पना कितनी ठीक थी और वह बिचारी वास्तव में कितनी सन्तप्त थी।

दस-पाँच दिन और बीत गए। एक दिन शाम को उधर जा निकला कि क्या देखता हूँ कि उस दूकान पर बड़ी भीड़ लगी है। स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी तमाशा देख रहे थे। वह धोबी बाहर ओटले पर एक ओर बैठा था। उसके पास लोहे की स्त्री रक्खी थी। उसकी पत्नी आर्तनाद कर रही थी कि सोना, चाँदी, बर्तन, कपड़े सब तो बेच ही आया। आज इस लोहे को भी बेचने चला है। हे भगवान! अब मैं कपड़े कैसे बनाऊँगी, इन बच्चों को कैसे पालूँगी? यह जुआ खेलता है, मुझे बरबाद कर दिया। एक पुलिस का जवान उस व्यक्ति को पकड़े लिए जा रहा था, पर वह चलता न था। तमाशाई अलग बीचबचाव की कोशिश कर रहे थे।

थोड़े समय बाद एक मुसलमान बूढ़ा वहाँ आया और जोर से बोला कि हमने इसको मकान देकर बड़ी भूल की। यहाँ रोज ही यह झगड़ा है। बेचारी औरत को सदा मारता-पीटता है और कमाता एक पैसा नहीं। जमादार साहब जरूर ले जाइये और हो सके तो इससे मेरा पीछा छुड़ा दीजिए। आप जो चाहें मैं दूँगा।

वह धोबी उत्तर में चिल्लाया कि यह औरत बदजात है। इसका सिपाही और मुसलमान से ताल्लुक है। तीन हजार का घर बेचकर इसने यारों को खिला दिया है। मैं भी जो चाहे करूँगा। बीच में कौन बोल सकता है।

और यह सब घंटों इसी तरह चलता रहा। मैं कुंठित-सा सोचता ही रहा कि इस सब का समाधान है क्या और मन मसोस कर रह गया जैसे मैं निष्क्रिय पाषाण हूँ और यह हलचलपूर्ण संसार, अपने में यह सब ही समेटे है। अनन्त शताब्दियों से नारी यही पाती रही है। इससे ऊपर उठने का कोई मार्ग नहीं उसके पास। क्या एकमात्र इसी के योग्य है वह।

उन्हीं दिनों एक मित्र आ धमके और मुझे हजार रोकने पर भी अपने साथ यात्रा को ले चले। हम उदयपुर चल दिए। वहाँ कई दिन सैर-सपाटे में बीते।

मैंने कुछ चित्र भी खींचे। तालाबों से परिपूर्ण यह शहर साक्षात् 'व्हेनिस' प्रतीत होता था। प्रवास में भी जीवन का कैसा माधुर्य है। घर की काहिली में डूबे निष्प्राण मन में नई स्फूर्ति आ गई।

वापिस आते समय हम चित्तौड़ ठहरे। वह विशाल दुर्ग, गौरवपूर्ण खंडहर, विजयस्तम्भ तथा मीराबाई के मन्दिर में मेरा हृदय रम गया। एक बूढ़े व्यक्ति ने मीरा की जीवनी सुनाई तो मेरी आँखें डबडबा आईं।

कई दिनों के बाद जब मैं वापिस आया तो एक कौतूहल ने मुझे उसी दिशा में ढकेला। मैंने देखा कि वह धोबिन उस घर में नहीं है और उसका पति रोटियाँ सेक रहा है तथा बच्चे खा रहे हैं। मेरी उत्सुकता द्विगुणित हो गई। दूसरे-तीसरे दिन फिर उधर ही जा

निकला तो देखा कि पड़ौसिन किसी से कह रही थी कि अब धोबी चैन से बैठा है। वह बिचारी दुख सहते-सहते कहीं चल दी। क्या पता किसी कुए, बावड़ी में डूब मरी या और कहीं चली गई। कहता क्या है कि किसी यार के साथ चली गई होगी। गोद तक के बच्चे को जो छोड़ गई है।

मैं कटे वृक्ष-सा रह गया। आँधी की भाँति हहरते अत्याचार से बचने का क्या एकमात्र यही उपाय है? और उस धोबिन की दयनीय आकृति मेरी पुतलियों में नाच उठी।

मौन का रहस्य

परिस्थितियों की विषमता मानव को अस्त-व्यस्त कर देती है। प्रकृति का कौन सा अंश ऐसा है जिसने यहाँ घुटने नहीं टेके? नदियाँ कभी लहराती हैं, कभी सूख कर मैदान कर देती हैं। पूर्णिमा की ज्योत्स्ना शीतल बनाती है तो अमावस्या का अन्धकार ठोकरें भी खिलाता है। किसी को खाक में मिलाने वाला एक दिन स्वयं खाक में मिल जाता है। गर्व के दुर्ग ढह कर गिरते हैं। आनन्द प्रतिच्छाया की भाँति झिलमिल और अस्थिर है। वेदना ही जीवन की अनन्त रागिनी है। दुःख न होता तो व्यक्ति एक दूसरे को पहिचान भी न पाते, संसार की जटिलता अपरिचित ही रह जाती। ग्रीष्म के सन्ताप के बाद वर्षा की रिमझिम आती ही है और यह नियति का चक्र निरन्तर चलता रहता है। कंचन अग्नि में पड़ कर निखर उठता है जबकि अन्य वस्तुएँ अपना अस्तित्व खो बैठती हैं। मानव की भी यही दशा है। वह स्वयं के लिए ही एक दुर्बोध पहेली है।

रामू की ग्रह-दशा उसे गोते दे रही थी। विधि की निर्ममता के हाथों वह खिलवाड़ बना हुआ था। क्रमागत विपत्तियों ने उसे जर्जर बना रक्खा था। शान्ति और धैर्य उसके लिए आकाश-कुसुम थे। वह अपनी दृष्टि में ही गिर चुका था। सृष्टि का सब से अधम जीव मानता था स्वयं को। छः बच्चों को धरोहर में दे उसकी पत्नी बिदा हो चुकी थी। दिन भर की मजदूरी, रोटी-पानी और बच्चों का पालन। सारी रात उसे प्रायः जागते बीतती थी। पारिवारिकों में कोई

अपना नहीं। एक विधवा माई अवश्य थी जो बहुत दूर रहती थी। निरन्तर की घसीटन ने रामू को खाट पर डाल दिया। अन्त में उसे तार देना ही पड़ा और एक दिन धीसी आ ही पहुँची। बाल-बच्चों को कुछ आश्वासन मिला। उस भयंकर समय में रामू को मानो वरदान मिला। वह आश्वस्त हुआ किञ्चित्।

स्मृतियों के भार से मुक्ति पाना किसके वश की बात है। पिछली रात, ढलते तारों पर दृष्टि फेंक रामू रो पड़ता। वह समय उसे स्मरण हो आता जब उसकी पत्नी इस मङ्गलबेला में उसे मीठे-मीठे गीत सुनाती। प्रातः चार से रात के दस तक, विपन्नता के झकोरों में सिहरती हुई भी, वह परिश्रम में डूबी रहती। इच्छा और तृष्णा से विरक्त, पति के एक शब्द पर, वह सब दुख भूल जाती थी। रामू एक मदिर परि-तृप्ति में निमग्न था। वह क्या जानता था कि सारे जीवन में जो आश्वासन वह येन-केन समेट पाया है वह भी यों छिन जावेगा। आज उन स्मृतियों का दाहक दंशन फिर उसे एक शान्ति देता है। वह नहीं चाहता कि फिर विवाह करे। मन की डोर एक बार ही किसी को सौंपी जाती है। वह भी कोई व्यापार की वस्तु है क्या?

परन्तु दुनिया का एक ही क्रम है। उसमें न किसी कारण से परिवर्तन हुआ है, न होगा। वह सभी को स्वनिर्मित राह पर घसीटती है। जो आनाकानी करता है उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचती है। उसे दायें-बायें देखने का अवकाश ही कहाँ! दुनिया सब को ठोक-पीट कर दुनियादार बनाने पर तुली है। भावुक और व्यथित आत्माओं को तो वह खेल-खेल कर ठिकाने लगाती है।

रामू के घर से भी जब कई कन्याओं के पिता लौट गए अपमानित हो कर तो उनने एक ही ध्वनि को प्रचार का रूप दिया कि

उसके घर में तो घीसी है ही, वह भला क्यों विवाह करेगा। वह भी तो कोई कुरूप नहीं, उसने अभी दुनिया में देखा ही क्या है। घीसी ने भी यह सुना गंभीरतापूर्वक पर रामू के पाँवों की तो जमीन ही खिसक गई।

समाज को यह क्यों भला जँचने लगा कि रामू के बच्चों को कोई भी दो रोटियाँ दे दे। उसके घर का दीपक जब बुझ चुका है तो वहाँ प्रकाश क्यों हो। इसी घुटघुटाहट के बीच एक दिन घीसी कह उठी—

'भैया! कहीं ठीक लड़की देख कर विवाह जमा लो तो मैं जाऊँ। बहुत दिन हो गए।'

'नित्य विवाह का व्यापार करते रहना ही तो जिन्दगी नहीं है घीसी। क्या तू इतना भी नहीं जानती कि नई लड़की इन बच्चों को जीने भी देगी।'

'कुछ भी हो। जीवन एक लम्बी यात्रा है, उसे अकेले कब तक पार करोगे? आज जो काम सहज, सम्भव है वह कल और दुर्लभ हो जावेगा।' वह सरलता से बोली।

'घीसी, जिस अभाव को तू नारी होकर सह सकती है उसे मैं पुरुष होकर क्यों नहीं सँभाल सकता। फिर मेरे पास तो उस दिवंगता की छः निशानियाँ हैं।' रामू के चेहरे पर निर्भीकता नाच रही थी।

'मेरी बात छोड़ो भय्या, हम स्त्रियों के लिए इसका विचार भी पाप है। तुम्हें दुनियाँ लाँघनी है, मेरा क्या है।'

'जो तुम्हारे लिए पाप है वह मेरे लिए कैसे पुण्य हो सकता है। रूढ़ियों की बात छोड़ो, मैं मन की बात पूछता हूँ। नदी से बाँध कर दूर पटक देने से क्या प्यास न लगेगी या आँखें फोड़ डालने से देखने की हविस मिट जावेगी। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि जिस वस्तु से बलात् दूर हटाया जावे, मन, वहीं जा कर चक्कर काटता है। मैं विवाह करने को तय्यार हूँ पर एक ही शर्त पर कि तुम भी अपना विवाह कर लो। तुम्हारा घर लपटों में झुलसता देख कर मैं कैसे रंगरेलियों में लिप्त हो जाऊँ, बोलो न?' रामू का स्वर दृढ़ होता गया।

'अरे भय्या, तुम्हारे मामा का चित्र मेरी पेटी में रक्खा है। उसका पूजा-ध्यान ही मेरा काम रह गया है। तुम मेरे लिए कुछ न सोचो। हम नारियाँ सहना जानती हैं। मन मारना हमारे वश की बात है। हमारा वातावरण ही सिमटा हुआ है, तुम चारों धाम घूमते हो। फिर कोई गाँव में भी नहीं रहने देगा।' मौसी विवर्ण हो उठी।

'जो सहना जानता है उसे निरन्तर इसी के लिए बाध्य किया जाय और जो उस से दूर है वह सदा दूर ही रहे, इस ही का नाम तो न्याय नहीं है। इन नियमों को ईश्वर ने नहीं बनाया, हम ही इनके निर्माता हैं, हम ही इन में सुधार करेंगे। मनुष्य जाति ने स्वयं धर्मशास्त्र का विस्तार किया। उसने अपने स्वार्थ को आदर्श का आवरण पहिना कर, नारी को उसकी जीवित रहने की सुविधाओं तक से वञ्चित किया। प्रकृति के द्वारा वितरित वायु-धूप तक उसके अधिकार से दूर रहे फिर उसे श्वास भी क्यों लेने दिया जाय, क्यों? हाँ मौसी! एक बात कहूँ, बुरा तो न मानोगी।'

'क्या?' उड़े चेहरे से वह बोली।

'यदि हम दोनों विवाह कर लें तो?' जिज्ञासा भरी दृष्टि से वह बोला।

वह फूट-फूट कर रोने लगी। घंटों बीत गए। रामू ने लाख कोशिश की पर वह मौन के उस रहस्य को न समझ सका।

दूसरे दिन घीसी का कहीं पता न था। उसकी खाट पर एक चिट्ठी मिली, लिखा था—

रामू,

दुनिया झूठ नहीं कहती। मुझे तुमसे डर लगता है। हमेशा को जा रही हूँ। विवाह कर ही लेना। एक ही राह पर चलने में फिर शान्ति है। भटकते फिरना कहीं भी ले जा सकता है।

—घीसी

जीवन-संग्राम

शोक, चिन्ता, निराशा की भी सीमा होती है। जब व्यक्ति क्षति को विस्तार दिए ही जाता है, तब कुछ अनहोनी घटती है और नियति, भाग्य व ईश्वर के नाम पर उसका मुँह बन्द कर देती है। अनिल कष्ट में है यहाँ तक सही है पर कल वह उससे दूर भी होगा फिर आधे सत्य को निहारने ही में क्या गौरव है? मनीषियों ने जीवन को संग्राम माना है फिर वहाँ कोई संघर्ष आए ही नहीं यह भला किस प्रकार सम्भव है। सब कुछ निर्भर इस बात पर है कि आप किसी बात को किस दृष्टिकोण से स्वीकार करते हैं। दृष्टिकोण की स्वस्थता ही जीवन-संग्राम की विजय का उद्घोष है।

आज रजनी घोर झुँझलाहट लिए पति के पास आई। वह जाने क्या बड़बड़ाई, इस बीच ही विजया अपने पापा के पास खिसक आई और बोली—'आप मेरी मम्मी से सदा क्यों झगड़ते रहते हैं?' अनिल कुछ कहे कि उसने सुना कि 'शाम के लिए कोयला नहीं है।'

और अब उसे लगा कि संसार का हर दुःख रोटी से छोटा है। जीवन का संघर्ष रोटी की लड़ाई है। प्रेम, कोमलता, ममता सब रोटी माँगते हैं और रोटी मानो इन सब की छाती पर पाँव रख कर अट्टहास कर रही है। संसार का कौनसा प्रेम है जो रोटी के बिना जीवित रहा। रोटी को लेकर मजदूर-पूँजीपति आन्दोलन है। खेती, व्यापार, नौकरी और भीख सब रोटी के लिए ही हैं। गीता का कर्म-वाद भी रोटी का ही प्रवर्तक है। भावुकता के कारण जो रोटी

के राजमार्ग से विपथ हुआ उसका भी कहीं ठिकाना है। समाज की प्रतिष्ठा से परे जीने का बल भी उसे कहाँ से प्राप्त होगा। इसीलिए पिता-पुत्र प्रेम नहीं कर पाते, भाई-भाई का शत्रु बना है। रोटी की समस्या मानव-जीवन की जटिलतम समस्या है, जिसने इसे जीत लिया, उसके लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। पत्नी, बच्चे भी रोटी को लेकर ही पुरुषार्थी कंधों का आश्रय ग्रहण करते हैं इसलिए मनुष्य को कितना सबल होना चाहिए, यह वह स्वयं सोचे।

अनिल सोचता है घर में कोयला नहीं है। कोयला द्रव्य से आता है और द्रव्य श्रम से मिलता है। पेट भरने के लिए वह भी किसी प्रकार का श्रम कर रहा है, कर्म पर उसकी आस्था है पर संभवतः उसका कर्म प्रिय हो पर श्रेयस्कर नहीं है। साहित्य लिखना, पत्रिकाओं को भेजना, कितने मास बाद छपेगा, कब पारिश्रमिक आवेगा इस आशा में डूबे रहना, इस प्रकार तो घर-गृहस्थी चल नहीं सकती। पैसा होने पर वह मित्रों आदि में अपव्यय कर देता है। इसे उदारता कहें या भावुकता समझ में नहीं आता। उसकी प्रकृति यथार्थ से इतनी दूर होगी इसका उसे पता न था अन्यथा विवाह कर किसी के जीवन से खिलवाड़ करने का उसे क्या अधिकार था ?

पत्नी ने दुबारा कहा, 'घर में कोयला बिलकुल नहीं है।' 'मैं सुन रहा हूँ पर लाने का प्रबन्ध क्या हो इस पर विचार कर रहा हूँ।'

'विचार करने से तो कुछ न बनेगा। पेट कल्पना और स्वप्नों के भंडार नहीं चाहता। उसे यथार्थ चाहिए! तुम कब सत्य को पहिचानोगे ?'

'सत्य को तो मैं दोनों आँखों से निहार रहा हूँ और उसी से मेरी विचारधारा बोझिल हो रही है पर अब अधिक नहीं चलेगा। परिवार को विनाश के ज्वालामुखी पर रख कर हृदय में मधुर भावनाएँ उत्पन्न ही कैसे हो सकती हैं। मैंने बड़ी गलत राह चुनी पर अब हो ही क्या सकता है ?' वह विचार करता जाता है।

अनिल का परिवार ऐसा हो गया है जैसे किसी यंत्र का पुरजा। सभी पारिवारिक जीवित हो कर भी मृत जैसे ही हैं। मृत्यु भी सम्भवतः उनसे घृणा करती है। व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगता है या अपनी भावुकता का, समझ में नहीं आता। रजनी और विजया का तो कोई अपराध नहीं है फिर वे क्यों सह रहे हैं यह सब ?

इसी समय घर के सामने एक तांगा रुका और अतिथियों ने घर में प्रवेश किया। प्रसन्नता का अभिनय करते हुए अनिल आगे बढ़ा। अब उसकी संज्ञा और भी शिथिल होने लगी। वह क्या करे क्या न करे ? चाय से निवृत्त हो वह सहसा घर से निकल गया।

सड़क पर के कोलाहल को देखकर वह और खिन्न हो उठता है कि यहाँ पैसा ही समाज का अधिपति बना बैठा है और मैं उसी से वंचित हूँ फिर जीवन में सफलता मिल ही कैसे सकती है। भिखारी से लेकर सम्राट तक पैसे के पीछे पड़े हैं। पैसा मानो सब को नचा रहा है।

उसे लगा कि उधार माँगना ही एकमात्र उपाय है पर उधार और भीख में अन्तर ही क्या है ? किसी ने मना कर दिया तो क्या उस पर घड़ों पानी नहीं आ गिरेगा पर वह और कर ही क्या सकता है। उसके पाँव आगे बढ़ते थे पर मन पीछे हटता था और इस प्रकार वह चला जा रहा था एक मुहल्ले की ओर।

एक मित्र के घर पहुँच कर दस-बीस मिनिट बात करता रहा और तब कहीं चर्चा चला पाया पर एक ठंडा उत्तर पा कर वापिस आ जाना पड़ा उसे।

कई मित्रों के यहाँ चक्कर काटते-काटते दुपहर हो आया अन्त में एक मित्र के यहाँ जा पहुँचा और दीनता के उस स्तर पर उतर जाना पड़ा उसे जो स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए एक दम सम्भव नहीं है। उसके बाद भी दस रुपए का कागज लिख कर साढ़े सात रुपए ले कर चल दिया वह घर की ओर जैसे ब्याज मूल से अधिक महत्वपूर्ण है

और उसको देना तत्काल की अनिवार्य आवश्यकता है। रोटी, कोयला, नमक, तेल जीवन के इस संग्राम से कैसे ऊपर उठा जा सकता है। अन्ततः कैसे ?

तीसरे दिन आटे का घाटा पड़ा और रजनी ने पति को कष्ट देने की अपेक्षा विजया को पड़ौसी के घर भेज दिया पर शीघ्र ही उसने सुना कि वह आटा नहीं ला सकी है।

'आटा क्यों नहीं लाई तू ?'

'उनने मना कर दिया !'

'क्या कहा ?'

'कहा, रोज कुछ न कुछ माँगने को आ खड़ी होती हो ! कोई दे भी तो कहाँ तक !'

'तू ने नहीं कहा कि वापिस भी तो दे ही जाती हूँ !'

'वापिस देना माँगने की कोई शर्त नहीं है।'

रजनी का अभिमान तिलमिला उठा। थोड़ी देर के बाद उसने सुना। पड़ोसिन चिल्ला रही थी 'देना-लेना फिर चलता है पर जो आदमी निकम्मा बन कागज रँगता रहता है उसे कोई क्यों दे। हर एक महनत से कमाता है। जिसे पेट भरना है वह मजदूरी का सहारा ले।'

अब रजनी से न रहा गया। वह आगे बढ़ आई, बोली—'आगे से कभी न देना पर अब एक शब्द भी मत बोलो वर्ना अच्छा न होगा।'

'अच्छा न होने को क्या होगा। घर में नहीं दाने, अम्मा चलीं भुनाने। ऐसी बड़ी है तो तू ही कुछ मजदूरी किया कर।'

'कर लूँगी बहिन ! और वह अन्दर आ फूट-फूट कर रोने लगी। अनिल ने देखा तो काँप उठा और अतिथियों के कानों तक बात पहुँची तो वे ताँगा मँगा कर सीधे चल दिए। दम्पति किस मुँह

से उन्हें रोकते। खिसिया कर और सिटपिटा कर रह गये। विजया की भी आँखें आँसुओं से रुद्ध हो गईं, बोली—

'पापा, मुझको फिर भूख लग गई तो क्या करेंगे ?'

आगे एक मित्र आए। उनसे भी हँस कर मिलना ही पड़ा। बात चल पड़ी—'ईश्वर भी अपने ही जनों को कष्ट के गर्त में पटकता है जिससे वे उसका अधिक स्मरण करें।'

'ईश्वर को घसीटने से क्या लाभ। व्यक्ति स्वयं उत्तरदाई है। इस अर्थपिशाच विश्व में जो न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु भी कमा नहीं सकता, उसे जीने का भी क्या अधिकार है।'

'वास्तव में अर्थ का संघर्ष तो यथार्थ का संघर्ष है। सब वाद रोटी पर टिके हैं। किसी की लाश का संस्कार समाप्त करके भी हम रोटी की ही ओर मुड़ते हैं।'

'जो रोटी नहीं ला सकता उसे आत्म-हत्या कर लेना चाहिए। रोटी के एक टुकड़े के लिए कितने श्वान नहीं झगड़ते ?'

'पलायन तो कोई मार्ग नहीं है। हमें जीवन का साहस से सामना करना चाहिए। कायरता, भय, निराशा जीवन के घोर शत्रु हैं।'

'मैं भी अब इस पर विश्वास करने लगा हूँ।'

इस बीच रजनी का एकमात्र भाई घर में घुसा मानो भावी शिक्षा के लिए वहाँ रहने आया हो या उसे लेने आया हो पर रजनी उसे देखकर प्रसन्न नहीं हुई, नहीं हो सकी, कुलबुला कर रह गई।

खाने के बाद विजया आ कर बोली—'मम्मी ने कुछ नहीं खाया। था ही कहाँ। अनिल पर वज्रपात हुआ। उसकी मानवता तड़प उठी। वह आहत सा हो कर उठा और चल दिया बाहर यह

निश्चय लिए कि जब तक काम न ढूँढ लूँगा, घर नहीं लौटूँगा और रजनी की सारी रात निराशा, चिन्ता और घुटन में बीती। सुबह का प्रकाश उसे अंगारा था।

दूसरे दिन अनिल आया थका, उदास, चिंतित।

'मैं अपने भाई के साथ जा रही हूँ' रजनी ने कहा।

'मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ' अनिल ने मुस्काते हुए कहा।

और दूसरे दिन रजनी श्रम-विभाग में क्लर्क हो गई।

मुहब्बत का मर्ज

क़िस्मत का खेल ही समझिए कि इस साल होली भी पहिली अप्रेल को ही आ पड़ी। खुदा मिला और नंगे सिर। हिन्दुस्तानी और विलायतस्तानी दोनों ही रंगों का सरूर और सो भी चकाचक। अपने राम यों तो एकदम ढीले, काहिल, मनमारू और बदरङ्ग आदमी हैं। आयु के मील-पत्थरों ने तीसवाँ बम-फायर ही किया है पर लगता ऐसा है मानो तीन सौ वर्ष की थकान और बुजदिली ने हमारे ही मैदान में डेरा डाल रक्खा हो। बात चुभती जरूर कह जाते हैं पर शरारत कर गुजरने की हिम्मत और मौके का फायदा कभी नहीं ही उठा पाया आँजनाब ने। दिमाग जरूर तेज है। पच्चीस मार्च की रात को बिस्तर पर तकिया तोड़ते-तोड़ते अचानक ख्याल आया कि कुछ चुहुल रहे और दूसरे मिनिट दिलो-दिमाग अपनी कारगुजारी पर मुस्करा रहे थे।

तो सोचा यह कि अपने सबसे अजीज दोस्त मिश्रा को ही क्यों न छकाया जावे और सो भी ऐसा कि बच्चा जन्म भर याद रक्खें। फर्स्ट ईअर की एक लड़की पर मियाँ सौ जान से निसार हुए बैठे थे। जब देखो तो वही जिक्र। कहीं उसकी खूबसूरती के कारनामे कहीं नाजो-अन्दाज की चर्चा। पहले-पहले हम सब उसे रोज छेड़ते 'म्याँ वह भी कभी आपको देख कर ठिठकती है या आप ही कोलतार से मुँह धोए बैठे हैं। वल्लाह!' बेचारा गर्दन लटका लेता। धीरे-धीरे

हमने देखा कि वह काठ का उल्लू भावुकता का डोज पी चुका है, कहता, 'प्रेम तो एकाँगी होता है, मैं उस तरफ से उम्मीद ही क्यों करूँ ?' हम तपाक से कह उठते 'तो तड़पते रहो सर्द सिसकियाँ ले ले कर, जब दम निकल जायगा आपका तो उन्हीं के होस्टल के आगे से आपका जनाजा ले चलेंगे जो लाश तो नज़्रे-इनायत से बाकी न रहे। और अब तो बीमारे-गम हम सब से भी कन्नी काटता रहता और उसके सर पर एक नई जुङ्ग सवार हुई। पिछली रात आप जग-जग कर शायरी करने लगे और मुझे उसी वक्त जगा कर बड़े झटके से सुनाते भी। मैं तो आजिज आ गया था सुनते-सुनते। दूसरे महीने एक नया मर्ज उनके गले पड़ा। अपनी प्रेयसी का चित्र तय्यार करने की खातिर ही आपने पेंटिंग क्लास जॉइन की। मैंने समझा कि मुहब्बत ने आर्टिस्ट से ज्यादा पागल उसे बना डाला। नाउम्मेदी ने वह घर किया कि जब देखो तब मुहर्रमी। यहाँ तक कि गन्दे कपड़े बदलवाना भी दूसरों का काम हो गया। खुदा का नूर डाढ़ी की खेती उनके चेहरे पर सर-सब्ज नजर आती। पढ़ते तो वे क्या खाक, मैंने सोचा हुए जनाब दीन-दुनिया से खारिज।

एक दिन का जिक्र कि जनाब नहाने को उतरे और मैं गुपचुप उनके कमरे में घुस बैठा। देखता हूँ खाट के नीचे तो एक पेस्टलस्केच, रेशमी कपड़े में लिपटा रक्खा है उसकी प्रेयसी का और ट्रंक का ढक्कन उलटा तो पेंदे में तौलिया के नीचे एक सुन्दर नोट बुक जिसके पहिले ही पेज पर लिखा था 'मूक आहें' और समर्पण-पृष्ठ की नजाकत 'अपनी उसको जिसका नाम भी लेना आज दूभर है' और आगे बाकायदा आपकी इकत्तीस कविताएँ जो मैं पहले ही सुन चुका था। वही रोना-झींकना, आहें-आँसू, हाहाकार-चीत्कार, अरमान-समशान का रामरौला। इतने ही में आ ही तो गया था वह कमरे के अन्दर।

'जादू तो वह है जो सर पर चढ़ कर बोले, छिपे रुस्तम निकले यार तुम तो। कहूँ न कहूँ कि उसके मुख पर निस्तेज करुणा नाचने

लगी। फिर भी मुझे कहना ही पड़ा कि भाई दर्दे दिल बड़ा पुराना मर्ज है और बुरी बला पर जब आपने इनायत की है तो घबराइये नहीं। इब्तिदाए इश्क है, रोता है क्या। कल क्या रङ्ग लाता है यह देखिए दिल थाम कर।'

तो मतलब यह है कि मुझे अपने इस हट्टे-कट्टे पट्ठे पर तरस आता था और ठान ही ली मैंने कि इसका इलाज करना ही पड़ेगा। होली और अप्रेल का आगमन कह गया कि साँप मरे न लाठी टूटे और मेरे करिश्मे भी कमर कस के चढ़ आए आगे और फिर क्या रङ्ग जमा यह भी सुनिए पर हँसिए नहीं।

अपने चारजामों में एक ऐसे भी दिलदार थे जो बीवी के साथ रहते थे। सारी चौकड़ी उनके यहाँ पहुँची। उन कथित भाभीजी की लल्लो-चप्पो के बाद आगए अपनी पर। कहा--आप सिर्फ इतना करें कि एक चिट्ठी लिख दें। बेचारा मायूस ताजिन्दगी आपको दुआएँ देगा। मजमून मुलाहिजा हो :--

प्रिय !

कई दिनों से आपको अपनी ओर देखते पाती हूँ। कुछ पूर्व जन्म का ही संयोग है कि मेरा मन भी रात-दिन आपके ध्यान में डूबा रहता है। रात रो-रो कर कटती है पर अपनी सहेलियों के बीच आप से बोलूँ कैसे ? पर यह तपिश जब्त भी कहाँ तक हो इसलिए आपसे करबद्ध प्रार्थना है कि पहली अप्रेल को आठ बजे रात को हमारे होस्टल के द्वार पर आइयेगा। बाद में घूमने चलेंगे। वहीं बातें होंगी। प्रतीक्षा में--

--कुमुद

सच मानिए अप्रेल का सूरज हमारे दोस्त के लिए नई रोशनी लाया। सुबह से नई सरगर्मी दिखी। शेव्ह बड़ी शान से हुआ। स्नान में पूरा पौन घण्टा लगा और कई साबुन इस्तेमाल किए गए। मियाँ मिट्ठू भी पूरा मूर्ख था। पाँच बजे से ही शानदार सूट-टाई में सज

चल दिया, बहाना कर कि एक रिश्तेदार से मिलने जा रहा हूँ ट्रेन पर। जानता जो था वह कि अगर वक्त पर निकला तो यार लोग साथ करेंगे और सब गुड़-गोबर हो जावेगा। फिर यह पहिला ही मौका था कि मेरे बिना वह कहीं गया। मैं हाँ ना करूँ तो वह हजार मिन्नतें करेगा और संग ले जाकर ही मानेगा पर आज तो रङ्ग ही दूसरा था न।

ज्यों-त्यों कर अँधेरा हुआ और राम-राम कर घड़ी के काँटों ने आठ पर झुकना स्वीकार किया ही था कि रोमांटिक मिश्रा गर्ल्स हॉस्टल के बड़े दरवाजे के पीछे देखते क्या हैं कि उस दूध-धुली रात में द्वार की परछाईं में वही चिर-परिचित आकृति। धड़कता दिल ले आगे बढ़े ही थे कि उस कलमुँही ने आव देखा न ताव, अपनी डबल-हील्ड सैंडल निकाल कर दो-चार, आठ-दस, बारह-पन्द्रह इस सनसनी से उसके कैंथरडाइन-आइल वाली जुल्फों पर दिए कि छठी का दूध याद आ गया।

रोकें-रोकें, कहें-कहें पर इतना अवसर ही कहाँ मिला कि इधर से हम यारों का दल, उधर से गर्ल्स पार्टी आ धमकी। एक यार बोला—वृन्दावन की कुंज गलिन में यह कैसी मानलीला है।

मैं झपट कर बोला—'भला यह भी कोई शराफत है कि किसी को न्यौता दे कर यह रस्मअदाई हो। वाह मिस कुमुद! आप पर डिफेमेशन चलेगा।'

उस सिटपिटे दब्बू पर दो-चार और आघात फटकारती हुई वह बोली—

'मुहब्बत में मजा तब है कि जब दोनों हों बेकरार!'

मुन्ना नहीं रहा !

उस दिन कॉमन रूम में सहसा एक सहकारी बोले 'क्यों मिस्टर ! तुम क्या खरगोश लोगे ? मैंने पाला है जिससे बच्चा उसके साथ खेल सके पर अब बच्चा बड़ा हो गया है और उसे डंडे से मारता है। मेरी श्रीमतीजी को डर है कि कहीं उसकी हत्या का पाप हमें न लगे।'

सुन कर मैं कुछ प्रसन्न अवश्य हुआ परन्तु पत्नी के परामर्श के बिना यह सब तै करना कठिन था। न जाने वे क्या रुख दिखलावें। वह हगेगा, मूतेगा, ऊधम करेगा। कौन बला मोल ले। कहीं उनकी ये भावनाएँ हुईं तो मेरा वचन क्या काम आएगा। मैं तो चौबीसों घण्टे घर पर बैठा नहीं रहता हूँ। पर एक ही आशा थी कि हैं श्रीमतीजी एकदम अकेली और सुना है कि अकेले व्यक्ति चाहे जिसको अपना हमजोली बनाने को सदा उद्यत रहते हैं। और मैंने अपने मित्र को उत्तर दिया कि 'कल कहूँगा।'

इस वार्तालाप पर अन्य मित्रों को भी आकृष्ट होते देख मैं किंचित भयभीत हुआ कि कहीं अवसर हाथ से न चला जावे और बोला, 'देखो भाई, पहला नम्बर मेरा है। मैं न लूँ तो किसी और को देना।'

आप सच मानिए वह संध्या मेरे लिए बोझिल बन आई। घर में बात क्या निकाली मानो बबाल मोल ले लिया हो। स्वीकृति क्या उत्साह, जोश और आग्रह के मारे मैं परेशान हो गया। पत्नी का

कहता था कि मैं तत्काल जा कर उस खरगोश को ले आऊँ। मेरे यहाँ एक विद्यार्थी रहता था। वह बार-बार अकेला ही जाने का हठ करने लगा जबकि न कुछ काम के लिए वह साफ मुकर जाता है। मैं बड़ी कठिनाई से उसे यह समझा पाया कि वह सज्जन उस समय घर मिलेंगे ही नहीं।

कहने का अभिप्राय यह है कि उस संध्या को मेरा घूमना भी स्थगित रहा जैसे कोई बड़ी सौभाग्यसूचक घटना हुई हो। मैं इधर-उधर भी करता पर रह रह कर वही बात दुहराई जाती यहाँ तक कि बातों का वास्तविक आनन्द लेने के लिए मैं तो उसके लाने की बात में आनाकानी दिखाने लगा।

रात को भी तीन-चार घंटे वही मियाँ खरगोश हमारे यहाँ चर्चा का विषय बने रहे जैसे कि आकाश से सोने की तश्तरी गिरने वाली हो।

पत्नी ने कहा—'उसका नाम क्या रक्खेंगे ?'

मैंने कहा—'सूत न कपास, जुलाहों में लठालठी।'

वह मिनमिना कर बोली—'नहीं, बताओ।'

मैं कह उठा—'उन्हीं से नाम भी पूछ आवेंगे।'

'तो तुम्हीं बताओ न।'

और रामू, श्यामू, गन्नू, चुन्नू, महेश, शरद, आलोक जैसे दर्जनों नाम सामने आए पर प्रत्येक में मीन-मेख निकाली गई। किसी में कुछ दोष था, किसी में कुछ। अन्त में 'मुन्ना' सर्वसम्मति से पास हो गया।

और मेरी 'वे' बार-बार कसमें खिलाने लगीं कि 'कहिए, सुबह होते ही आप उसे ले आवेंगे न ?'

हमने आँखें मीच कर तटस्थ भाव से कहा—'हुँ…हुँ !' और वह खीज उठतीं रह-रह कर। अन्त में मैंने उसे लाने का वादा करके पीछा छुड़ाया। पर उस बच्चे की तरह जिसे सुबह उठते ही मिठाई

का प्रलोभन दे दिया गया हो । श्रीमतीजी को नींद भी उस दिन उन्नीस बीस ही आई और प्रातःकाल हो भी न पाया था कि वही 'रामधुन' लागी ।

इस खींचातानी का रसास्वाद लेने के लिए मैंने पूरा दूसरा दिन भी टाल दिया पर मैं ही जानता हूँ कि वह मुझे कितना मँहगा पड़ा । सिवाय एक विशिष्ट वस्तु पर बातचीत, झगड़ा, कलह के कुछ भी मेरे पल्ले न पड़ा, मैं कुछ भी न कर सका ।

दूसरे दिन सर्वप्रथम मुझे ही उसके प्रिय दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ । कुछ सफेद, कुछ काला उसका रङ्ग था । एक कान बादामी था । ऐसा भला और सुहावना लगा मुझे कि कोई वरदान मिला हो । रास्ते भर जिसने देखा ठिठक कर रह गया । कोई चार रुपए देता था, कोई पाँच पर मैं उसे कभी बेच सकता था । घर पर लाकर रखना था कि पड़ोसियों का मेला लग गया । कोई गोदी में लेता था, कोई उङ्गली से उचकाता था, कोई कुछ ! पत्नी तो इतनी प्रसन्न हुई मानो उन्होंने पुत्रप्रसव किया हो ।

घंटे-आध घंटे में सब से छुट्टी पाकर खाना खाने बैठे और साहब बहादुर भी चौके में ही विराजमान थे । उस दिन धर्म-कर्म की व्यवस्था वाला भाषण पत्नीजी भूल गईं । मैं ने चिढ़ाने के लिए कहा—'निकालो इसे चौके के बाहर' और फिर तो वह उनकी गोदी में खेल रहा था ।

थोड़े समय बाद वह चूल्हे की तरफ जाने लगा । जहाँ आग थी, निदान डाँटना आवश्यक हो गया पर वाह रे उसका स्वाभिमान ! आध घंटे अविचलित भाव से एक स्थान पर बैठा रहा और हजार मान मनाने पर भी टस से मस न हुआ । पहिले ही हम समझ गए कि वह भी हमारी ही जाति का है ।

दिन भर इधर से उधर दुलकियाँ लगाता रहा । दौड़ता ऐसा तेज था कि क्या मजाल है कि कोई पीछा कर सके ।

कभी पड़ोसी के यहाँ, कभी चढ़ाव पर इधर-उधर। मतलब यह कि उसने बहुत शीघ्र अपना मैदान तय्यार कर लिया।

पत्नी को मैंने बार-बार समझाया था और वचन लिया था कि वह उसे सँभाल कर रक्खेगी, प्रतिक्षण उसके पास रहेगी। किसी चीज को पाला सहज है पर उसे सँभाल कर रखना कितना कठिन है, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। बिल्ली से रखवाली करना बहुत आवश्यक था और सब वायदों के बाद ही खरगोश महोदय हमारी श्यामा कुटीर में प्रवेश कर पाए थे, अन्यथा इतनी सरलता से वे हम सब के इतने अन्तरङ्ग कैसे बन पाते।

उसके भोजन के लिए पत्तों वाली तरकारियाँ और कोथमीर मँगवाया गया और दिन भर उसका वह लाड़ हुआ जो कभी हमें तक नसीब न हुआ था। पाँचों घी में होना इसी को तो कहते हैं।

रात्रि को श्रीमतीजी की रजाई में शयन किया हमारे मुन्ना ने और हम अँगड़ाई तक न ले पाए कि फिर वही उछल-कूद।

समझदारी देखिए कि बचे समय में आप एक सुरक्षित स्थान में, सन्दूकों के नीचे निवास करते थे। हम ढूँढ-ढूँढ कर परेशान और देखिए तो आप उस कोने में दुबके बैठे हैं जैसे कि कोई आँखमिचौनी खेल रहा हो।

शाम को मैंने विचार किया कि उसके लिए कोई बढ़िया पिंजरा तय्यार कराया जावे इसलिए मैं सुतार की खोज में रोज से जरा जल्दी ही चल दिया। उसका सब प्रबन्ध कर, घूम-फिर दस-ग्यारह बजे लौटा। साँकल खुलते ही देखा कि घर में विचित्र स्तब्धता थी और जरा में पत्नी काँपते हुए बोली—'मुन्ना नहीं रहा।' मुझ पर मानो बिजली गिर पड़ी हो। कटे वृक्ष सा वहीं गिर पड़ा। बातचीत, डाँट-डपट का निष्कर्ष इतना ही निकला कि पत्नी नल पर गई थी, विद्यार्थी से मुन्ना की देख-रेख को कह गई थीं। गैलरी में दिन-भर घूमते-दौड़ते किसी कुत्ते ने उस पर निगाह जमा ली थी। किवाड़े

सटी हुई थीं। आकर झपट बैठा वह। घर में अन्धकार पड़ा था। बचाने की ओर किसी का ध्यान जावे कि वह झँझोड़ ही चुका था और थोड़ी देर में उसकी लोथमात्र शेष थी।

'क्या उसके प्राण लेने के लिए ही हम उसे यहाँ तक ले आए थे' मैं कह रहा था। हमारे सब मनसूबे चकनाचूर हो गए थे। पत्नी उसे अपने पिता के घर ले जाने वाली थीं। वहाँ उनकी छोटी बहिन मुन्नी कहीं उस मुन्ना को हथियाने के लिए मचल न उठें इसलिए मैंने यह आर्डर जारी कर दिया था कि यह कभी न हो सकेगा।

दस-पाँच दिन बाद वही सहकारी सहज भाव से बोल उठे, 'खरगोश कैसे है ? क्या-क्या खाता है ?' और मेरे हृदय पर किसी ने जलता अङ्गारा रख दिया। साहस समेट कर मुँह तक शब्द लाया कि 'वह अब कहाँ है ?' पर वे ओठों से उलझ कर रह गए। और मैं बोला—'हरी तरकारियाँ खूब शौक से खाता है। बड़ी दुलत्ती लगाता है। पत्नी में तो रम ही गया है पर मेरे साले साहब उसे ले जाने को पीछे पड़ गए हैं।' और दूसरी बार जब वह मित्र घर के सामने से निकले तो मैं भीतर छिप रहा कि कहीं वे उसे देखने का आग्रह कर बैठें तो।

स्वप्न की छाया

प्रोफेसर बेनर्जी ने अभी-अभी वृद्धावस्था में कुमारी मालती से विवाह किया है। दोनों की आयु में आकाश-पाताल का अन्तर है परन्तु धन और पद असंभव को भी संभव बना देते हैं। एक दिन प्रोफेसर व्याख्यान देने कहीं बाहर गए थे कि सहसा सुधीर घर पर आ पहुँचा। वह आते ही आश्चर्य में डूब गया और बोला—

'मालती, तुम यहाँ कहाँ ?'

'मालती, नहीं माताजी !'

'क्या तुमने पिताजी से विवाह कर लिया ?'

'कर लिया या कर लेना पड़ा। बातें दोनों एक सी ही हैं।'

'नारी इतनी नीचे गिर सकती है, यह मैंने आज जाना।'

'पुरुष इतना उद्धत और लापरवाह हो सकता है इसे भी तो किसी ने जाना ही।'

'यह तुम कैसे कह रही हो ?'

'वह ज्योत्सना में नहाती रात्रि भूल गए क्या ? मैंने तुम्हारे पाँवों पर सिर रख कर भिक्षा माँगी थी कि सुधीर ! मुझे बचा लो। तुम युवक हो और मैं आशा और अरमानों से लहलहाता हृदय लिए एक विवश, मूक, नारी हूँ। मज्जागत लज्जा को एक ओर रख मैंने स्वयं तुमसे प्रार्थना की थी कि मुझे कहीं ले चलो पर तुमने उसे भी ठुकरा दिया। क्या इसी को धधकता प्रेम और साहस कह सकते हो ?

तुम तो महात्वाकांक्षाओं के हाथ बिक चुके थे न, अब क्यों संतप्त होते हो ?'

'पर मैंने तो तुमसे अवकाश ही माँगा था। तुम इतनी भी प्रतीक्षा न कर सकीं।'

'आकाश से गिरने वाली बिजली अवसर की प्रतीक्षा नहीं करती। हिन्दू-कन्या परिवार पर एक भीषण बोझ होती है। उसे जिस तरह हो हटाकर छुटकारा पाया जाता है। तुम तो बी० ए० पास हो गए। मेरे लिए यही क्या कम है ?'

'तुमने बचपन से आज तक की मेरी स्नेह-साधना का अच्छा पुरस्कार दिया। बी० ए० के लिए मैं एक वर्ष इसीलिए चाहता था जिससे तुम्हारा उदरपोषण सुचारु रूप से कर सकूँ। गली-गली भटकाने के लिए तुम्हें कहाँ ले जाता। तुमने मुझे अवसर ही से वंचित नहीं किया, मेरा सर्वनाश ही कर डाला।'

'अब मैं तुम जैसे एक हजार युवकों का उदरपोषण कर सकती हूँ। तुम्हारे पिता तुमसे कहीं दयालु हैं। उनने सब कुछ मुझे सौंप रक्खा है। एक दिन तुम बड़े उत्साह से कह रहे थे न—मालती, जरा ठहर जाओ। बाबूजी को कितने दिन और जीना है। फिर मैं होऊँगा और मेरी दुनियाँ। सब कुछ हमारा होगा—सो सब मेरा हो गया। तुम्हें कुछ मिल सकेगा या नहीं, यही हमें और विचार करना है।'

'यदि स्नेह-शीतल वाणी नहीं बोल सकतीं तो चुप तो रह सकती हो।'

'अब चुप रहने और फुसफुसाने को कुछ नहीं है। नारी भले छलना सिद्ध हो सकती है पर माता अनन्त ममतामयी है। उसकी छाती बहुत विशाल है, वह चिर उत्सर्गपरायण है। आज तक जो मैं तुम्हें चाह कर भी न दे सकी, उसे अब न चाहते हुए भी, चाहे जितना दे सकती हूँ। हम एक दूसरे को साँस-साँस चाहते थे, अब अनन्त युगों के लिए मिल भी गए हैं। तुम इससे भी विशाल कल्पना कर

सकते थे। रह जाती है बाहरी रूप की बात पर प्रेम इस सबको निहारने-परखने में समय खर्च नहीं करता। मैं तो आज भी वही हूँ न तुम्हारी मालती। तुम्हारी आशा और कल्पनाओं का एकमात्र आधार। तुम्हारे स्वप्न की छाया अब साकार हो उठी है। देखो न, अब तो मैं और सुन्दर लगने लगी हूँ। उन दिनों निर्धनता ने मुझे निष्प्रभ बना रक्खा था। अब तुम और मादकता से आकर्षित हो सकोगे!'

'पिताजी आजाएँ, फिर आऊँगा। तुम मुझे बैठने न दोगी।'

'यह कैसे हो सकता है भैया! तुम्हारे पिताजी तो एक परिषद् में भाषण देने कानपुर गए हैं। सौतेली माँ वैसे ही कलंकित प्राणी है। तुम यों चले जाओगे तो मुझे यहाँ कौन रहने देगा। यह सब तो तुम्हारा था, तुम्हारा है। मुझे तो तुम्हारे पिता ने कृपा कर आश्रय दिया है।'

'मुझे क्षमा कर दो। मेरी तुच्छ भूल सारे जीवन को सघन अन्धकार से भर देगी, इसे नहीं जानता था। जीवन की साँस-साँस, मन-प्राण-आत्मा से तुम्हें और केवल तुम्हें चाहा था सो तुम भी हाथ से जाती रहीं। इससे दुर्वह पराजय और क्या होगी?'

'नारी से पुरुष सदा हारता रहा है पर परिस्थिति से चकनाचूर हो उठने वाले व्यक्ति को मैं मनुष्य नहीं मानती। फिर विवाह को ही हम प्रेम और विश्वास का एकमात्र प्रामाणिक मापदण्ड मानें, इसमें ही क्या तथ्य है।'

'नारी जब मानव की अनन्त लोलुप वासना का शिकार बनती रही तभी विवाह-प्रथा को जन्म मिला।'

'परन्तु विवाहित व्यक्ति सदा परस्पर स्नेहार्द्र एवं ईमानदार ही रहे, इस का कहीं प्रमाण नहीं।'

'स्वयंवर में कन्या स्वयं पति को चुनती थी और पुनः आद्यन्त उसके हेतु सर्वस्व समर्पित किए रहती थी। नारी कोमल और दुर्बल

है, इसी से चुनने का अधिकार उसे दिया गया था और मनुष्य धर्म की शृंखलाओं में जकड़ दिया गया था जिससे वह रसमत्त भ्रमर की भाँति चाह कर भी उसे न त्याग सके। अपनी रुचि से वस्तु चुनने के बाद चाहे व्यक्ति धोखा ही क्यों न खा जाय परन्तु फिर अभियोग और विद्रोह के लिए स्थान शेष नहीं रहता परन्तु आज के अर्थ-युग में धन ने विवेक का गला दबोच, वासना से गठबन्धन कर लिया है। आयु, रुचि एवं बुद्धि के घोर असामंजस्य के बाद भी पूंजीपति युवती नारी को निष्प्राण वल्लरी के समान गले लगाए हैं अन्यथा क्या पैंसठ वर्ष का खूसट व्यक्ति पन्द्रह वर्ष की नातिनी के समान कन्या से विवाह कर सकता था ?'

'मैं तुमसे सदा कहा करती थी कि प्रेम और विवाह, अमृत और विष की तरह कदापि एक पात्र में नहीं रह सकते। बहुत संभव ही नहीं, आवश्यक ही था कि विवाह के बाद तुम्हारी पुरुषोचित अधिकार भावना के मद में, कुछ मास के निर्बाध सामीप्य में, हमारी स्नेह-ऊष्मा भी शिथिल पड़ जाती। हम भी अन्य दम्पतियों के सदृश, एक-दूसरे के दोष ढूँढने लगते और खीझ तथा कडुआहट हमारे जीवन को भी दूभर बना देती।'

'पर यह सब कैसे हुआ मालती ?'

'एक दिन पिछली रात माँ को सिसकते हुए देखा। बहुत पूछने पर बोलीं कि तुम्हारे पिता की नौकरी छूट गई है। इन छः बच्चों का क्या होगा ? प्रो० बैनर्जी दस हजार रुपए दे रहे हैं पर स्वयं तुझ से विवाह करना चाहते हैं पर मैं तेरी हत्या कदापि न होने दूँगी। मैं ने आत्म-हत्या करने का विचार किया पर यह इतना सरल नहीं था। कई दिन चूल्हा न जला। अन्त में मैं झुक गई। पेट की आग बहुत बुरी होती है सुधीर! मैं और क्या करती, तुम्हीं बताओ, मैं और क्या करती ?'

'मैं तुम्हारी विवशता मानता हूँ पर तुम्हीं ने सिखाया है कि होनहार पर तुम शासन करो इसी में पुरुषार्थ है। जब तुम मेरे साथ हो, मैं कदापि हार न मानूँगा।'

'दस हज़ार में एक वैश्या भी जीवन भर के लिए अपना शरीर किसी को न बेचेगी।'

(२)

दूसरे दिन पिताजी भी आ गए और सुधीर ने उन्हें मुबारक-बाद दी। खींचातानी बढ़ गई। सुधीर ने स्पष्ट कहा कि वे दोनों एक-दूसरे के घोर शत्रु हैं। वे दोनों मालती नामक कन्या को चाहते हैं, वह किसे चाहती है यही निर्णायक तत्व है। पिता आवेश में सुधीर से घर से चले जाने को कहते हैं और कहते हैं कि वह जो चाहे साथ ले जा सकता है। वह मालती को साथ ले जाने लगता है। खींचातानी में वे गोली चलाने की धमकी देते हैं और अन्त में चला ही देते हैं। सुधीर को बचाने के यत्न में मालती की मृत्यु हो जाती है और सहसा सुधीर कह उठता है—

'यहाँ भी तुम्हारी ही जीत हुई, मालती!'

अँगूठी की बात

आज पड़ा-पड़ा सोचता हूँ कि बीमार मैं कब नहीं रहा। मेरे अवचेतन में यह घुमड़ उठता है कि अस्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन कैसे निवास कर सकता है? शारीरिक या मानसिक कुछ पचड़ा सदैव मुझे उलझाए रहा और मैं मानो उससे ऊपर न उठ पाया। सुना कि जन्म के समय मैं बहुत स्वस्थ था। ढाई वर्ष की आयु में हुए मोतीझरे ने मुझे कुचल डाला। आठ वर्ष की आयु ने मुझे सिर के फोड़ों से पीड़ित देखा। बीस वर्ष की आयु गृद्धसीवात लाई। तब लगा कि लँगड़ापन ही जीवन का वरदान बन रहेगा। अब उन्निद्र ने मेरी शान्ति छीन ली है। इस अप्रिय गाथा को कौन और भला कब तक सुने? व्यक्ति एक बार रूखा-सूखा खाकर सुखी रह सकता है पर निरन्तर की रुग्णता या उसकी भावना परछाईं के सुख को भी छीन लेती है।

सो इस बार की बीमारी में मैंने पत्नी को आदेश दिया कि मेरी बहिन रूपा वर्षों से नहीं आई है, इस बार वह आ सके तो मेरे मन को बड़ी सांत्वना मिले। कुछ ननु नच के पश्चात् मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और दो-चार दिन बाद मेरी बहिन अपने दो बच्चों के साथ आ गई।

रूपा क्या आई मेरा बचपन लौट आया, सुधियाँ उभर आईं, मेरी माँ मानो किसी कोने से उझक कर मेरी चिंता लेने लगी। रक्त की तत्समता जीवन को इतना सुख दे सकती है यह मैंने प्रथम बार अनुभव किया। रूपा हर्ष और गर्व से फूली न समाती थी कि मेरे

भाई ने मुझे बुलाया। ससुराल में मेरी नाक कितनी ऊँची हुई। जब पड़ोसिन से उसने कहा कि मैं पीहर जा रही हूँ तो उसकी छाती फूल उठी थी।

पर जितनी अधिक सुरभि से युक्त पुष्प होता है उतने ही काँटे भी उसमें होते हैं। एक खटका मुझे सदा लगा रहता कि घर में कोई विवाद उपस्थित न हो जाय। मेरी पत्नी थी बड़े घर की कन्या और मैं भी आज ढाई सौ का प्रोफेसर था पर मेरी बहिन के पति चालीस रुपए के मुंशी थे और कठिनाई से दाल-रोटी चला पाते थे पर इस सब के बाद भी रूपा स्वाभिमान की जीवित मूर्ति थी। वह कभी न हीनता की भावना से पीड़ित ही रहती न वैभव के आकाश कुसुमों में ही मन को अटकाए रहती। वह सदा सोचती कि जिसे ईश्वर आवश्यकता से अधिक धन देता है उसका और कुछ, कदाचित् बहुत महत्वपूर्ण छीन लेता है इससे हमें जो मिला है उसमें आश्वस्त रहना जीवन की सर्वोच्च सफलता है।

कहीं पढ़ा था कि अभिमान पोषण चाहता है इसी से सम्पत्ति का दर्प, निर्धनों के अपमान पर ही टिका है। यह संसार कदाचित् दो वर्गों में बँटा है धनी व निर्धन, शोषक और शोषित। इस आधार-शिला के माध्यम से सब नाते-रिश्ते, स्नेह-ममत्व असत्य ठहरते हैं। इसे कोई नहीं अस्वीकार करता कि स्वाभिमान से जीने के लिए धन एक आवश्यक तत्व है पर धन ही सब कुछ है, मतभेद यहाँ है। संपत्ति जहाँ ईश्वर बन बैठती है वहाँ प्रभु चरणकंदुक से अधिक क्या रह जाता है। धन श्रम है, पसीना है, रक्त है पर उससे ऊपर भी कुछ है इसे कैसे विस्मृत करें। धन साधन बने, साध्य नहीं अन्यथा वह पाषाण बन बैठेगा और ऐसी वस्तु से टकरा कर हम रक्त-रंजित ही हो सकते हैं, प्रसन्न नहीं।

एक दिन की बात कि नहाने के कक्ष में जब मैं पहुँचा तो स्नान करते हुए मैंने अँगूठी उतार कर रख दी और स्नान से निवृत्त हो

सीधा पढ़ने के कमरे में चला गया। घण्टे भर बाद जब स्मरण आया तो सिटपिटा उठा और दौड़ कर पहुँचा स्नान-गृह में पर अँगूठी वहाँ न थी। मैं विवर्ण हो उठा कि क्या करूँ, क्या नहीं पर अन्त में सब प्रकार से निराश होकर पत्नी के पास जा पहुँचा और उसे सब हाल सुना दिया। उसने भी अपने यत्न भर सर्वत्र खोज की परन्तु निष्फल। घर भर में हंगामा मच गया। कभी इस पर शंका होती थी कभी उस पर। मैं तो फिर भी कुछ मस्त प्रकृति का व्यक्ति हूँ पर पत्नी इस आघात को कैसे सहज सह सकती थी अतएव वह बात दो-चार दिन के लिए चर्चा का विषय बन बैठी।

अपनी चीज की रक्षा न करना और फिर किसी को भी भला-बुरा कहना यह किस महानता का द्योतक है। शंका विष की धारा है जिसे फैलते देर नहीं लगती। शंका करने के पूर्व व्यक्ति यह सोच तक नहीं पाता कि उसकी शंका का आधार थोड़ा भी दृढ़ है या नहीं। सो कई दिनों तक जब अँगूठी नहीं मिली तो एक दिन सहसा पत्नी कह उठी 'हो न हो, यह अँगूठी रूपा ने ही ली है, वह चुप भी रहती है, उसने जन्म ऐसी अँगूठी देखी भी कहाँ होगी ?'

मुझे तो यह सुन कर मानो काठ मार गया। फिर भी मैंने कहा—'निर्धन व्यक्ति को क्या स्वाभिमान नहीं होता ?'

यह सुन कर मुझे वह कहानी स्मरण हो आई जिसमें एक सम्पन्न व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के यहाँ मिलने गया। संयोगवश उसकी जेब में एक अशर्फी थी। थोड़ी देर के बाद उस कक्ष में अशर्फी खो जाने का हंगामा मचा। वह व्यक्ति मन ही मन बड़ा लज्जित हुआ और दुविधा में पड़ गया। थोड़ी देर में अपने शील से परास्त हो उसने अशर्फी आगे बढ़ा दी और चलता बना। थोड़े दिन बाद जिस व्यक्ति से वह मिलने गया था उसने उसकी अशर्फी वापिस भेजी और कहलवाया कि वास्तविक अशर्फी तो दावात में मिल गई है। उसके नाती ने वहाँ पटक दी थी।

रूपा मेरे सामने रोती आई और बोली—'भय्या, मुझे अपने घर जाने दो। मैं निर्धन हूँ, मेरा यहाँ रहना ठीक नहीं। तुमने मुझे व्यर्थ ही बुलाया।'

मैं रोकूँ-रोकूँ कि वह चल ही दी। जाते समय अपने कर्णं-फूल मेरी पत्नी को दे गई कि ये मेरी भावी भतीजी को दे देना।

मुझे लगा मानो वह मेरे मुँह पर तमाचा मार गई हो।

दूसरे दिन प्रातः पत्नी ने जगाया और बोली—'आपकी अँगूठी तो सन्दूक में मिली। अपने होश-हवास ठीक रक्खा करो न। दुनिया भर पर शंका हो जाती है।'

'गया सोना तो मिल गया पर सोने सी रूपा हमेशा को चली गई' मैं बोला।

पर अब हो ही क्या सकता था।

जब वे नहीं रहे !

आठ दिन पूर्व मैं लाखों की स्वामिनी थी पर आज मानो पथ की भिखारिणी हूँ। नियति का चक्र किसी को कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है मैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। अभी मेरे पति का देहान्त हो गया है। चार ललकते बच्चे मेरे सामने हैं। इनके पालन-पोषण जीवन-निर्माण का ज्वलन्त प्रश्न मेरे सामने है। मैं क्या करूँ क्या न करूँ !

स्वाभिमान मेरे जीवन का ध्रुवतारा रहा है, मैं किसी के आश्रित रहना नहीं चाहती। मेरा सौतेला पुत्र मुझे अपने गहनों तक से वंचित कर देना चाहता है फिर मेरे और बच्चों के जीवन का आधार ही क्या रहता है !

आज मैंने अपने पिता को बुलवाया है। मैंने उनके चरणों पर सिर रख कर भीख माँगी। आप मेरे बच्चों को बचा लीजिए। मैं शीघ्र ही अपना प्रबन्ध कर लूँगी पर उनने कहा कि वे किसी से बैर नहीं कर सकते।

बाद में मैंने अपने दो सहोदर भाइयों को बुला कर यही प्रार्थना की उनने उसे सहज ठुकरा दी। मुझे जीवन और जगत का नया अनुभव हुआ। हे मनुष्य तेरी कृतघ्नता से बड़ा इस विश्व में और क्या है।

तत्पश्चात् मैंने अपने देवर को बुलवाया और यही प्रार्थना की

पर हर ओर सन्नाटा था। आज कोई मेरा न था। कल तक सब मेरे आगे-पीछे घूमते थे।

अन्त में मैंने अपने जामातृ को बुला कर कहा—'मैं तुम्हारा तो द्रव्य नहीं खा सकती। तुम ही मुझे बचा लो। मैं आजीवन तुम्हारा अहसान मानूँगी' पर वहाँ भी निषेध खड़ा था।

और मुझे लगा कि संसार यह है पर अनुभव की गुरुता ने कहा कि यह तो सदा ही ऐसा था तुम्हें समझ न थी, वह आज आ गई।

मेरे चारों ओर अन्धकार था। क्या करूँ, क्या नहीं। न पास में पैसा था, न कुछ शिक्षा ही प्राप्त की थी। पति का शोक तो जाने कहाँ गया, मुझे भविष्य की कड़ुआहट निगलने लगी। बार-बार प्रार्थना करती थी पर ईश्वर भी नहीं सुन रहा था।

हिन्दू स्त्री कितनी निस्सहाय है। समय पड़ने पर ससुराल-मायके में उसका कोई नहीं, विश्व में परछाईं भी उसके साथ नहीं। ऐसा ज्ञात होता तो कुछ रुपया अलग ही रख छोड़ती पर अब हो ही क्या सकता था। तीर छूट चुका था, तरकश खाली था।

कई दिन मैंने भोजन नहीं किया, कुछ दिन जल तक न पिया पर उससे क्या होना था। दिन पर दिन मैं सूखने लगी पर अब इस शरीर का होना ही क्या था।

मेरे मस्तिष्क में जीवन की घटनाएँ घूमने लगीं। गाँव में ग़रीब घर में जन्म हुआ था। शिक्षा-दीक्षा के साधन ही कहाँ थे।

पिता के पास या तो इतना रुपया था नहीं या वे खर्च करना नहीं चाहते थे इस कारण तिजवर पति से विवाह हुआ।

पति का प्रेम, धन-वैभव सब कुछ था पर कुछ कसकता था कि यदि योग्य वर मिलता तो कैसा सुख होता। ललक इतनी थी कि जिस दिन पुत्र होता, उसकी पत्नी के आभूषण बनवाए बिना सोहर में जलग्रहण न करती। वे आभूषण भी रक्खे हैं और बच्चे भी पर उनके लिए एक समय का भोजन जुटाना जटिल समस्या हो गई है। विधिविधान !

यदि मैं स्वाभिमान का परित्याग करदूँ तो संभवतः जीवन का धक्का चल सकता है। पर उसके बाद जीवन में शेष ही क्या रह जाता है। इधर चारों बच्चों को सिसकता हुआ कैसे देखूँ। अजीब दुविधा का जाल घेरे है मुझे। पर निर्णय तो करना ही होगा और कब तक न करूँ ?

जिस ईश्वर ने मनुष्य को बनाया, उसने उसे इतना निरीह क्यों बना दिया। उसके लिए हर द्वार बन्द क्यों कर दिया ? भूल ईश्वर की है, प्रारब्ध की या व्यक्ति की कुछ समझ में नहीं आता। ऐसा समय जीवन में क्यों आ जाता है जब व्यक्ति घुट कर रह जाता है। या तो उसमें आत्मबल की कमी होती है या वह परिस्थितियों से समझौता नहीं कर पाता।

सहायता की अपेक्षा स्वयं एक विडम्बना है। जीवन-पथ यदि राजमार्ग होता तो लोग उसे संग्राम क्यों कहते। पथ पर अड़बड़ाने से कौन सहायता करता है। सब पल्ला झाड़ दूर जा खड़े होते हैं या और हँसते हैं। वास्तव में हर व्यक्ति अपनी समस्याओं में इतना जकड़ा हुआ है कि वह चाह कर भी अन्य की सहायता कर ही नहीं सकता अतएव अहं का आग्रह तो यह है कि सहायता की अपेक्षा ही न की जाय और विश्व में ऐसे व्यक्ति हैं जो बिना किसी की सहायता के

अपनी जीवन-नैया को खे कर ले गए। पर मेरी नाव तो तूफान में पड़ गई है, उसे कैसे निकालूँ ? कौन सा मार्ग है उसकी मुक्ति का। कहीं वायु के थपेड़ों से वह डूब तो नहीं जायगी। हे प्रभु, मेरा सब ले लो पर मुझे इन बच्चों के लिए जीने दो। इन्हें एकदम अनाथ न बन जाने दो। इनने जीवन का कोई सुख नहीं देखा है और मेरे बाद इन्हें कोई शान्ति तक देने वाला नहीं है।

पर ईश्वर ने मेरी कोई प्रार्थना नहीं सुनी। संसार में कोई मेरे काम न आया। संभवतः ईश्वर भी उसी की सहायता करते हैं जो अपनी सहायता करता है। आत्मा ही आत्मा की बन्धु है, वही उसकी शत्रु है।

मैं मूढ़ अबला आत्मविकास का रहस्य क्या जानूँ ! कुछ शिक्षा ही मिली होती तो आज कुछ कर सकने का बल होता पर अब पश्चाताप से क्या हो सकता है। साधु, संघर्ष से अन्त तक जूझना मृत्युपर्यन्त भाई !

स्वाभिमान और जीवन-लालसा के द्वन्द्व ने मुझे झकझोर डाला है। नहीं जानती कि किसकी विजय होगी।

सब को छोड़ो पर माता-पिता जिनने जन्म दिया उनने आँखें फेर लीं। भाई जो साथ खेले, विवाह के बाद जो मेरे घर रहे, पले, पढ़े तथा विवाहित हुए वे भी कृतघ्न हो गए। संसार से मनुष्यता और आदर्शवाद सदा को उठ गए। इस स्वार्थ प्रमुख विश्व में जहाँ प्रत्येक अपने स्वार्थ को साधने में जुटा है, वहाँ जो दूसरों के लिए जीता है एक दिन उसका सर्वनाश हो जाता है। आज मेरे आँगन में भी यही धुँआ घुट रहा है।

यथार्थ का तो यह अनुरोध है कि हर परिस्थिति में मनुष्य अपने लिए जिए। सौ वर्ष में कभी तो सुख की घड़ी आवेगी।

पर विवेक और ज्ञान मानो मेरे लिए नहीं बने हैं। मैं असहाय और अधीर हूँ। बच्चों का मोह अवश्य मुझे झकझोरता है पर मैं अब उस धर्मसंकट में नहीं पड़ूँगी।

मेरे पति मानो मुझे स्वर्ग से बुला रहे हैं। मुझे जाना ही होगा, मैं यह चली। मेरा एकमात्र यही मार्ग है। मैं आज विष खा रही हूँ। कल का प्रातः मुझे सब झंझटों से दूर देखेगा।

विक्षोभ

रात भर की गहरी अनिद्रा और उससे उत्पन्न शैथिल्य को झटकारती हुई सुशीला उठ बैठी और खिड़की के जंगले को पकड़ कर खड़ी रह गई। प्रभातवायु के स्पर्श से उसकी लुचलुची साड़ी का आँचल लहराने लगा। दूसरे क्षण ही देखा डाकिया सामने खड़ा था। हाथ बढ़ा कर पत्र लिया कि शोक और शंका से किञ्चित विवर्ण हो उठी। अरे, ये तो सुधीर के ही अक्षर हैं। फिर कमरे में पहुँच, चिटकनी लगा पढ़ने लगी—

श्रीमती सुशीलादेवी !

जीवन में आपको अपना समझने की अन्तिम भूल जो कर बैठा था उसका संशोधन करता हूँ। आप मुझे नीच एवं विश्वास के अयोग्य कह कर संतोष पा सकती हैं परन्तु मुझे भी इतना कहने का अधिकार अवश्य दीजिए कि जीवन में मुझ जैसे व्यक्ति को दया प्रायः सभी दिखलाते हैं पर अपनाने की क्षमता और त्याग किसी में नहीं। मेरी साँसें इतनी अकिंचन क्यों बनें जिन्हें अनुकम्पा के चार टुकड़े खरीद सकें। इसमें दोष हम किसी का नहीं, उत्तरदायी है वर्गविभिन्नता। आप सम्पन्नता से घिरी हैं और मैं अनाथ व्यक्तित्व जो समेटे हूँ। आप लोगों का हर अवगुण विशिष्टता का सूचक है जबकि मेरी सर्वोच्च महानता भी है एक छिद्र, अपमान और अभिशाप। फिर भी ईश्वर को धन्यवाद है कि आप से सब कुछ पाकर भी मैं अपना निजी मूल्य नहीं भूला हूँ।

इतना और कि मुझे सब से घृणा है, केवल घृणा और आज आप भी इसका अपवाद नहीं। दुनिया और उसका प्रेम बहुत महत्त्व-पूर्ण हो पर मैं किसी के योग्य नहीं हूँ। इसे अन्तिम पत्र समझिए। अब जितने दिन जीवित भी रहा वह समय विनाश की तय्यारी में ही खर्च होगा।

—सुधीर

सुशीला ने पत्र फिर-फिर पढ़ा और सन्न रह गई। जिस वज्रपात की आशंका से वह निरन्तर ग्रस्त रहती थी वह सहसा उस पर आ पड़ा। आज उसने पहिली बार अनुभव किया कि संसार में सब कुछ को थामे रहने की क्षमता एक विडम्बना है। एक के नाम पर दूसरा खो ही जाता है। इस क्षण तक जो उसके जीवन का सबसे बड़ा सहारा था उसे मानो कोई छाती चीर कर छीन ले गया और वह कुछ न कर सकी। होश सँभालने के दिन से आज तक की सुधीर के साहचर्य की घटनाएँ उसकी पुतलियों में कौंध उठीं। जो स्वप्न, समय की धूल से धुँधले और इतस्ततः हो गये थे, वे एक-एक शूल से उभर उसे कसकने लगे।

पत्र रख कर कमरा उसने खोल दिया और देखा स्वामी जाग गए हैं और शौच से निवृत्त हो गरम पानी की राह देख रहे हैं।

सकपकाती हुई उसने तत्काल स्टोव्ह जलाया और पानी लाए लाए कि उन्होंने ठंडे जल से मुँह-हाथ धो लिया।

सौभाग्य यह कि वह इतवार का दिन था। वे सैर-सपाटे को बाहर चल दिए। कहते गए कि दो मित्रों का भी खाना बनाना है।

उनके जाते ही वह कुछ आश्वस्त हो बैठी। पत्र फिर निकाला और फिर पढ़ा, कई बार पढ़ा और फफक-फफक कर रोने लगी। कहीं यह पत्र उनके हाथ में पड़ जाता तो। सुधीर को साहस कैसे हुआ यों सीधा पत्र भेजने का पर अब उसे कौन कुछ लिखता है जो वह डरे। आज निर्विवाद रूप से वह सुधीर को सदा के लिए खो बैठी। किसी

प्रकार अब नहीं पा सकती उसे। पाना भले ही सहज हो किसी को पर उसे सुरक्षित रखना तो एकदम कठिन है। उसने उसे सँभाल कर रखने में क्या नहीं किया पर सब व्यर्थ।

फिर वह सोचती है सुधीर मेरा है कौन! किसी को अपना मान लेना ही अपनत्व के हेतु पर्याप्त है क्या? मैंने उसके लिए आज तक क्या किया? हवा के वेग को मुट्ठी में बाँध कर किसने रक्खा है। यों मेरे पास क्या नहीं है पर लगता है यह सब बोझ है। जीवन भर की खोज के बाद जिसे अपना बना पाया था वही छिन गया। जो कुछ संसार ने मुझे दिया है उसी से स्वयं को सुखी बनाना सीखना चाहिए और मैं सीखने की कला में निपुण तो हो गई पर इतनी तल्लीन भी हो गई कि सब कुछ खो जाने के बाद मुझे उसका ज्ञान हुआ पर अब तो बहुत देर हो गई है न फिर भी एक हूक रह-रह कर चीख उठती है कि यदि सुधीर के साथ पल-पल रह पाती तो……! और आँसू से भीग गए उसके गाल और लगी फिर सोचने वह कि इस क्षण मुझे यह सब सोचने का अधिकार ही क्या रहा है।

चूल्हा जला सबसे पहिले उसने उस पत्र को राख बना दिया। हलुआ, पूरी, शाक व दही बड़े बनाए और पापड़ तल ही रही थी कि स्वामी तथा मित्रगण आ पहुँचे। खाना-पीना, पान-सिगरेट व ताश-कैरम की चहल-पहल रही।

शाम होते न होते स्वामी अन्दर आए, बोले—'आज शो में चलना है। वह नारङ्गी जार्जेट वाली साड़ी बदल डालो जरा और देखो नेक्लेस और ईअररिंग्ज भी न भूलना' और एक बार झकझोर कर वह गए, वह गए।

सुशीला का रोम-रोम कराह उठा। घायल मृगी सी बिस्तरे पर जा पड़ी। तकिए में मुँह छिपा जी भर कर रोई। आध घण्टे से ऊपर हो गया पर उसकी सिसकियाँ बढ़ती ही गईं। इतने में पति के

आने की आहट पा एकदम चादर ओढ़ ली और दूसरे मिनिट आल्मारी से साड़ी निकालने लगी, मधुर मुसकान लिए।

सिनेमा की प्रेम-कहानी में जहाँ माधुर्य और उद्रेक का सीन आता, स्वामी हाथ हिला बैठते और जाने कैसी चेष्टा से मत्त हो उठते और सुशीला को भी उस अनुराग का प्रत्युत्तर ज्यों-त्यों देना ही पड़ता।

खेल खतम होने पर बोटिंग का प्रोग्राम रहा। स्वामी को प्रसन्न करने के लिए सुशीला को दो गीत भी नाव पर सुनाना पड़े। वे बोले—'तुम ऐसी उदास क्यों रहती हो सुशी!' खिलखिला कर हँसती हुई वह बोली—'यह भी खूब रही। कोई न बोले तो वह उदास हो गया। अब मैं खूब बोला करूँगी, तुम्हें हर तरह से प्रसन्न बनाऊँगी पर कुछ देर मैं चुप भी रहूँ तो तुम्हें शंका न करनी चाहिए। उस समय तो मैं यह सोचती हूँ कि तुम्हें किस प्रकार कितना सुखी बना सकती हूँ' और पाँवों पर झुकती हुई बोली—'तुम्हारे सिवा मेरा है कौन ?'

घर पहुँचते ही स्वामी ने हाथ पकड़ सामने बिठा लिया और एक बाजी केरम की जमी। वह उठी कि झपट कर फिर हाथ पकड़ कर बोले—'आज तुम बहुत ही सुन्दर लग रही हो। इतना मेरा मन कभी नहीं रीझा।

दूसरे दिन सुबह उसी समय उसे एक और पत्र मिला। लिखा था—

सुधीर न रहा!

और वह धड़ाम से गिर पड़ी।

अन्जो

इस बार जब मेरा तबादला लखनऊ हुआ तो मन कुछ प्रफुल्ल था। कारण यह था कि वहाँ मेरे चाचा डिप्टी कलेक्टर थे। जाते ही उनके यहाँ अड्डा जमा दिया। वे भी बड़े प्रसन्न हुए, बोले—'घर सूना लगता था, तुम आगए तो जान आ गई। आज अपने चाचा के हाथ का खाना खा कर देखो। हम भी क्या कमाल करते हैं।' चाचा बड़ी मस्त प्रकृति के आदमी थे और मन के भी बड़े उदार थे। मेरा आगमन उनके लिए आनन्द का प्रवाह ले आया। घर में चाची और बच्चे भी चहचहा उठे। मुझे लगा परिवार भी क्या ही आनन्द का उत्स है। यों मैं अकेले कहीं मकान लेकर पड़ा भी रहता तो क्या आनन्द आता। एकाकी उदासीनता जीवन को शून्य और नीरस बना कर भार बना डालती। अब मन ऐसा बहला रहता है कि समय कहाँ और कैसे निकल गया, इसका पता ही नहीं चलता। लम्बा-चौड़ा मकान है, मुझे स्वतन्त्र कमरा भी मिल गया है। पढ़ने-लिखने का भी डौल-डौल जमता जा रहा है। चा, नाश्ता, विश्राम सभी का ऐसा सुख है कि घर पर भी नहीं था। इन लोगों को यही चिन्ता रहती है कि मुझे कुछ कष्ट न हो, मैं कुछ अन्यथा न मान लूँ। सुबह से रात तक हँसी-मजाक, संध्या हुई कि सिनेमा-नाटक का रङ्ग। हर तरह मजा ही मजा है। जीवन की अवधि ही इतनी कम है कि वह कब और कैसे बीत चला इसका पता ही नहीं लगना चाहिए। फिर मेरी उमर भी तो अठारह-बीस के बीच में है जब अंकुर भी वृक्ष

प्रतीत होता है, जिधर देखो जीवन की हरियाली और रंगीनी। एक ही अपराध मेरा है कि शिक्षा जैसे सड़ियल विभाग में नौकरी की पर भावी शिक्षा के लिए इसके अतिरिक्त उपाय ही क्या था। गरीबी और महत्वाकांक्षा जैसे छत्तीस के अंक हों। बिना डिग्री पाए इस पूँजीवादी संसार में व्यक्ति को न्यूनतम प्रतिष्ठा भी कहाँ मिल सकती है फिर थोड़ा बहुत लिखने-पढ़ने का जो व्यसन मैंने अपना रक्खा है उसका पोषण भी इस धर्मखाते के विभाग में सम्भव है, अन्यत्र इतनी भी सुविधा कहाँ ?

दूसरे दिन चाचाजी बोले—'आ तो तुम यहाँ गये हो, रह भी मेरे पास रहे हो पर एक काम तुम्हें मेरा भी करना होगा। वह यह कि मेरे एक घनिष्ठ मित्र हैं बैरिस्टर पाल, उनकी एक कन्या है अन्जना, हम उसे अन्जो कहते हैं, उसको कोई योग्य शिक्षक नहीं मिल रहा अतएव तुम्हें उसको पढ़ाने का भार उठाना होगा और उनसे हम लोग रुपए-पैसे नहीं ले सकते। अन्जो मैट्रिक में बैठ रही है।'

सारी कहानी सुन कर मैं मानो रोमांचित हो उठा। पढ़ाना, मैट्रिक, रुपए-पैसे नहीं और कन्या। ये सब संयोग क्या अभिप्राय रखते हैं। मैं किञ्चित भयभीत सा हो उठा और सोचने लगा कि पढ़ाऊँ या नहीं। मना करने पर अपनी प्रतिष्ठा से अधिक विद्वता और व्यक्तित्व पर आघात था। दूसरी ओर मन में मानो साकार रंगीनी तैर उठी। कम से कम एक घण्टे प्रतिदिन किसी समवयस्क कन्या के सामने बैठना पड़ेगा, बार-बार आँखों से आँखें टकरा उठेंगी, जाने कैसा लगेगा। चरित्र-निष्ठा मेरे जीवन का सर्वोच्च आधार है क्या वह नहीं डगमगा उठेगी। थोड़ा पढ़ लिख कर नैतिकता के प्रति मेरे विचार डगमगा अवश्य उठे थे। रूप और यौवन का आकर्षण यदि अनैतिक है तो उसकी प्रतिष्ठा ही क्यों हुई। यौन-वैपरीत्य यदि कोई तत्व नहीं तो पुरुष स्त्री की ओर ही आकर्षित क्यों होता है ? निर्माता को स्वयं चिन्ता हुई थी कि मेरी सृष्टि चलेगी कैसे, नित्य वो

निर्माण-कार्य में मैं तत्पर रह नहीं सकता अतएव उसने स्त्री-पुरुष के बीच रूप और यौवन का आकर्षण स्थापित किया। उसने यह भी नहीं सोचा होगा कि व्यक्ति एक ही नारी की ओर आकर्षित हो अथवा किसी विशेष नारी पर ही अपने प्यार को केन्द्रित रक्खे। यह सब तो समाज ने अपनी सुविधा के लिए नियम बनाए और अपने वर्ग के लिए पूरी सुविधा सुरक्षित रक्खी कि पत्नी के मरते ही मनुष्य दूसरा विवाह कर ले और उसके बाद तीसरा पर पत्नी कभी परपुरुष का ध्यान भी न करे। इसे भी कोई समाज का न्याय कह सकता है ?

दूसरे दिन मैं स्वयं पाल साहब के यहाँ जा पहुँचा। वे ठीक उसी समय कहीं बाहर जा रहे थे। दरवाजे पर ही मुठभेड़ हो गई। वे मेरी ओर ऐसी भयंकर दृष्टि से देखने लगे कि कोई मुलजिम हो। दो मिनिट में उसका भी रस लेता रहा क्योंकि मैं जानता था कि उनकी कई कन्याएँ हैं और वे इसे कैसे सह सकते थे कि कोई उनके घर में अप्रत्याशित रूप से प्रवेश करे। पर शीघ्र ही मैंने मौन भंग किया, बोला—'मैं अमुक डिप्टी कलेक्टर का भतीजा हूँ और अन्जो को पढ़ाने आया हूँ' ये शब्द सुनते न सुनते उनकी आकृति का प्रकोप बदल गया और वे बड़े प्यार से हाथ मिला कर बोले—'आइये, आइये मैं तो आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था। आपकी बड़ी कृपा है। चलिए मैं आपका उससे परिचय करा दूँ।'

और परिचय का सम्भ्रम भी समाप्त हुआ और वे चल दिए अपने निर्दिष्ट काम की ओर। अन्जो को देख कर मुझे लगा कि वह साधारण लड़की ही नहीं है। मैंने आज तक जितनी कन्याएँ देखी हैं वह उनमें सबसे अलग स्थान रखती है। निखरा रंग ही उसकी एक-मात्र धरोहर नहीं है, इकहरी देहयष्टि में जिस 'कट' का वरदान वह लाई थी वह मुझे झकझोर गया। मैंने उसे देखा और देखता ही रह

गया। वह भी कुछ सकपका सी गई। एक बार दृष्टि ऊँची की थी उसके बाद फिर पलकें भूमि को ही अपना आधार बनाए रहीं। मैं पढ़ाने का समय बता कर चल दिया पर रास्ते भर अत्यन्त अन्यमनस्क रहा और कभी अत्यन्त प्रसन्न हो उठता कि लखनऊ में पैर रखते ही यह सब क्या चक्कर है। मुझे डर लगने लगा कि कहीं फिर शीघ्र ही मेरा यहाँ से स्थानान्तर न हो जाए अन्यथा यह बिछोह कितना मँहगा पड़ेगा पर वियोग की आशंका में यह मिलन का स्वप्न तो नहीं छोड़ा जा सकता। मेरी दशा उस व्यक्ति की सी हो रही थी जो मुख के ग्रास को न निगल ही सकता है, न उगल ही सकता है।

पहिले दिन जो पढ़ाने बैठा तो देखा कि छात्रा विशेष रूप से मेधावी है। उसके साथ अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं है। नीति में लिखा है कि छात्र एक पात्र के समान है जिसे यदि सीधा रखा गया हो तो वह विद्या को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करता है और उल्टा होने पर—

ज्ञानलव दुर्विदग्धं ब्रह्मापि न रंजयति

वाली बात चरितार्थ होती है। सो यह पात्रता देखकर मैं मुग्ध हो गया। भारतीय घरों में कन्याओं को यों ही पढ़ने का अवसर कहाँ मिल पाता है। इसीलिए जो भी अवसर उन्हें मिलता है वे उस का पूर्ण उपयोग करती हैं। अन्जो रूप और गुण में समान ही सिद्ध हुई। इसके पूर्व भी मैं कई छात्राओं को पढ़ा चुका हूँ पर अन्जो की बात ही निराली थी। वह बीच में कुछ पूछती थी तो मुझे लगता था मानो वह मुझे कृतज्ञ कर रही है। नम्रता और मार्दव उसमें मानो गठ-बन्धन कर बैठे हों। शील और आचरण मानो उसकी धरोहर हों।

पढ़ाई का पहिला दिन ऐसा बीता मानो हिमालय पर मैंने जलविहार किया हो पर हूँ कुछ मैं विपरीत प्रकृति का आदमी। यह विचार मुझे पीड़ा देता ही रहा कि एक दिन यह सौभाग्य अतीत की

गाथा बन जाने वाला है और पीड़ा तथा दंशन भी, पर तर्क मुझे फिर दबोच देता कि भविष्य की आशंका से आज के सुख से भी आँखें मीच लेना किस महानता का लक्षण है। व्यक्ति तो एक क्षण के सुख के लिए पृथ्वी-आकाश उलट देता है फिर मेरा मन उस रूपमाधुरी के पान में यदि कुछ शांति पा लेता है तो उसमें कौन बड़ा पाप हो गया और फिर मैं पढ़ाना बन्द भी कर दूँ तो चाचाजी अप्रसन्न हो जाएँगे और मुझे उनके यहाँ रहना जो है। उल्टा ही प्रभाव पड़ा कि मैं हर क्षण सोचता ही रहता कि पढ़ाने का समय कब आवेगा और वह इतने शीघ्र समाप्त कैसे हो गया।

दूसरे दिन सुबह उठते ही क्या देखता हूँ कि अन्जो मेरे घर आई है तथा मेरे पढ़ने के कमरे में आ पहुँची है। मैं कुछ कहूँ न कहूँ कि वह कुर्सी पर आ डटी जैसे उसका कुछ अधिकार हो। लड़की होकर लज्जा-संकोच नाम को नहीं, यह सब है क्या! मैं तो स्तब्ध रह गया मानो बिजली कौंध उठी हो। कुछ कहूँ न कहूँ कि वह ही बोल उठी 'इस वर्ष मैट्रिक का तो हिन्दी का पेपर ही आपका है। क्या आप कुछ भी आवश्यक प्रश्न नहीं बताएँगे ?'

मैंने कहा—'घर आने व बात करने का बहाना तो तुमने अच्छा ढूँढ़ निकाला पर क्या तुम इतना भी नहीं जानतीं कि कोई भी परीक्षक प्रश्नों को प्रकट करके क्या अपनी प्रतिष्ठा और चाकरी स्थिर रख सकता है ? यह विचार तो तुम स्वयं कर सकती थीं, मैं कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ।'

'तो आप मेरा इतना भी विश्वास नहीं करते। मैं क्या प्रश्नों को अखबार में छपवा दूँगी ? पर इतनी जल्दी आप मुझ पर विश्वास भी कैसे कर सकते हैं ? कुछ दिन बाद बतला दीजिएगा' मैं चली।

संध्या के समय चाचीजी मुझसे बोलीं 'कि तुम इस लड़की से अधिक हेल-मेल न बढ़ाओ। यह हमारे घर क्यों आई ? मैं इसे पसन्द

नहीं करती' और मुझे काटो तो खून नहीं फिर भी साहस समेट कर बोला—'इसमें मेरा क्या अपराध है। चाचाजी ने ही पढ़ाने भेजा अन्यथा मैं वहाँ जाता ही क्यों ? आपने ही उसे क्यों न रोक दिया कि ऊपर आती ही नहीं। आगे मैं स्वयं मना कर दूँगा !'

उस दिन शाम को मैंने भोजन नहीं किया पर सोते समय मेरा मन कुछ आश्वस्त था कि उसके हृदय में मेरे लिए कोई स्थान न होता तो क्यों आती वह। यह तो प्रथम चरण है सो भी उसने आगे बढ़ाया इसे क्या कहते होंगे मनोविज्ञान में !

इसी प्रकार पढ़ाने-लिखाने व आने-जाने का व्यापार शिथिल-तीव्र गति से चलता रहा। मुझे कुछ भय भी बढ़ता गया कि अन्जो का यह स्नेह और आगे बढ़ना जाने क्या रंग लावेगा। मेरी शिथिल प्रकृति और अप्राकृत संकोच और कोई घटना न ले आवे इसी में मैं उलझा रहा पर एक ओर मैं यह भी देखता था कि अन्जो को पढ़ाने में मैं अधिक समय देता जा रहा हूँ। कभी वह संकोचवश कह उठती, 'मैं आपका बहुत समय ले लेती हूँ' उत्तर में मैं बोला—'मुझे काम ही क्या है। स्कूल के अतिरिक्त समय बिताना भी भारी पड़ता है। आपकी कुछ सहायता कर देता हूँ इसमें क्या विशेष बात है ?'

मैं जब भी जाता तो मेरे लिए फल और नाश्तों की तश्तरियाँ आतीं। मुझे कुछ संकोच भी होता पर मना कैसे कर सकता था। अपने पढ़ाने के ऋण से उन्हें कैसे बोझिल और पीड़ित रखता। व्यक्ति में एक स्वाभाविक भावना है कि वह किसी के भी आभार को, पूर्ण नहीं तो आंशिक रूप में ही सही, प्रतिदान के माध्यम से चुका देना चाहता है अन्यथा वह बोझ उसके स्वयं के लिए ही भार बनता जाता है और व्यक्ति भार से दबा रहना क्यों पसन्द करने लगा ! इन्हीं सब बातों को

सोचकर मैं खा-पी लेता और चुप रह जाता पर एक दिन कह ही उठा कि 'प्रतिदिन आप मेरे लिए इतना कष्ट क्यों उठाती हैं, मुझे बड़ा अटपटा लगता है। क्या इसके बिना काम नहीं चल सकता ?' वह भी तपाक से बोली—'यदि सभी कुछ कष्ट हैं तो आपको नित्य पढ़ाने आने में ही क्या कम कष्ट होता होगा। मेरे मन में तो एक साध है कि एक दिन अपने हाथों से भोजन बना कर आपको खिलाऊँ। क्या दाल-भात खाने में आप जाति का विचार करेंगे ? जहाँ स्नेह है वहाँ ये सब पचड़े हैं, मैं तो आपको खिला कर छोड़ूँगी, देखें आप क्या कर लेते हैं ?'

और मैं अप्रतिभ रह गया।

यह दूसरा आघात था। मैं सोचता ही रहा कि इस कोमल अन्तर में यह झंकृति क्यों बार-बार उभर उठती है। यह क्या नहीं सोचती कि इसका परिणाम क्या होगा पर परिणाम सोचने की बुद्धि हर एक में तो होती नहीं फिर एक चौदह-पन्द्रह वर्ष की कन्या इतना सब कैसे सोच सकती है पर सोचे या न सोचे परिणाम से छुटकारा तो किसी का हो नहीं पाता पर विश्व में साधारणतः व्यक्ति जो प्रत्यक्ष में देखता है, उसी का सामना करता है, उसी में रस लेता है यह तो विचारकों किंवा दार्शनिकों का रामरौला है कि वे परिणाम की आशंका में प्रत्यक्ष के आनन्द से भी स्वयं को वंचित कर लेते हैं, भला इसमें भी कुछ लाभ है। जीने का श्रेष्ठतम मार्ग यही है कि जिस राह पर सब चल रहे हैं उसी पर चला जावे। व्यक्ति स्वयं को ऊँचा उठाने के दर्प में संभवतः स्वयं को नीचे गिरा लेता है। सबसे भले हैं मूढ़, जिन्हें न व्यापे जगत गति।'

प्रेम वास्तव में एक दंशन है जो जीवन भर कसका करता है इसीलिए चतुर मनुष्य उससे दूर भागते रहते हैं। किसी को अपनी

ओर खींचने की अपेक्षा उससे खिंचे रहने में ही लुत्फ है। एक दिन अन्जो के पति होंगे, संताने होंगी, मोटर होगी, बङ्गला होगा। उस रस-रङ्ग के बीच उसे मुझ अकिंचन की स्मृति आने ही क्यों लगी और कभी आ भी गई तो उससे लाभ भी क्या! कोई किसी अन्य से कहता है कि'मुझे याद रखना' जबकि याद रखने वाला स्वयं एक दिन विस्मृति की वस्तु बन जाने वाला है। और 'स्मृति' सब के लिए धरोहर बने भी क्यों? यह तो भावुक हृदयों का करुण क्रन्दन है। यथार्थवाद से आलोड़ित विश्व रुपए, आने, पाई का हिसाब रखता है, उसके कोष में किसी की याद के लिए स्थान ही कहाँ है?

सबसे अधिक चुभने वाली घटना उस संध्या की है जो मेरे अन्तस्तल का बड़ा भाग ढाके बैठी है। उसका वर्णन लेखनी कैसे करे? एक दिन पढ़ाते समय ही सहसा वह बोल उठी 'कल शाम को छः बजे आप चाय पर आइयेगा।' मैंने कहा—'रोज ही तो आपके यहाँ चाय पीता हूँ फिर यह नया आयोजन क्यों?'

'नहीं, आप अवश्य आइयेगा, आपको मेरी शपथ है। मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगी। ऐसा न हो कि आप न आएँ।' वह बोली।

और मैं रात भर इसी उधेड़-बुन में पड़ा रहा कि यह सब क्या है और क्यों है पर जाए बिना भला मैं कहीं रह सकता था और दिन को लाँघते हुए वह शाम भी आ ही पहुँची।

मैं डाकघर में था। सहसा छः बजते देख सिटपिटा गया, अपनी स्मृति की दुर्बलता पर और भागा हुआ जा पहुँचा उसके घर। देखता क्या हूँ कि वह द्वार पर ही प्रतीक्षा कर रही थी और संभवतः झुँझला रही थी। वह हाथ पकड़ कर भीतर ले गई और मैं उस स्पर्श से झनझना उठा। मैं उसकी निर्भीकता से आतंकित हो उठा पर

थोड़ी देर में ही मैंने अनुभव किया कि उसके माता-पिता घर में नहीं हैं। छोटी बहिन अवश्य संभवतः परिचर्या के निमित्त वहीं थी।

उस दिन जिन विषयों पर बातें हुईं उनका उसकी पढ़ाई से कोई सम्बन्ध न था। पर्दा-प्रथा, स्त्री-स्वातन्त्र्य, जीवन का लक्ष्य, निर्बाध प्रेम ही मानो हमारी बातों के मूल में थे। वह जिस मुक्त-कंठ से आज बातें कर रही थी, इसके पूर्व मैंने कभी भी नहीं सुना था। मुझे लगा कि यह इतनी आगे बढ़ सकती है, इसे कौन सा सुख मिल गया इस प्रेमालाप में पर मैं भी कम प्रसन्न न था फिर वह ही क्यों न होती ?

थोड़े समय के पश्चात् उसने अपनी बहिन से मिठाई-नमकीन मँगवाया और इस एकान्त-बेला में वह और इतनी मुक्त प्रतीत हुई मानो मुझे आँखों से पी जा रही हो। मेरा हाथ झकझोर कर बोली कि अब मुझे कब तक अकेला रहना होगा और मैं मानो पाषाण की मूर्ति हो चला जैसे पाला पड़ गया हो। अच्छा यह हुआ कि बहिन आ गई और खाने-पीने का रङ्ग जमा।

खाने के पश्चात् वह ज्यों ही मेरे हाथ धुला रही थी कि मोटर का हार्न बजा। सहसा उसने मेरे कान में कहा कि 'पापा आ गए' आप पीछे के द्वार से निकल जाइये।

और तब मैं समझा आज की मीटिंग का रहस्यवाद और ज्यों-त्यों कर पिछले द्वार पर पहुँचा कि मोटर अन्दर आई। ठीक उसी समय मैं अहाते से निकल कर उस पार पहुँच गया और तार के फेंसिंग से कूदते समय भी यही डर दबोचे रहा कि कोई देख तो नहीं रहा है और राम-राम कर मेरी जान में जान आई। मैं उसके साहस की प्रशंसा करूँ या अपनी कायरता की।

रात को मैं काँपता ही रहा कि इस प्रेम का परिणाम कहाँ ले

जाएगा। मैं न उसे प्राप्त ही कर सकता था न भूल ही सकता था। मेरा हाथ थपथपाते समय उसकी आँखें क्यों डबडबा आईं थीं, यह आज तक नहीं समझ पाया हूँ। नारी का प्रेम, उसकी भिक्षा, यह निमंत्रण मुझे क्यों खलबला देता है पर नहीं मुझे दूर ही रहना है। लपलपाती लपटों में कौन प्रसन्न रह पाया है। आज नहीं तो कल मुझे उससे दूर हटना ही पड़ेगा। जितनी समीपता होगी उससे अधिक दूरी क्या न खलेगी इसलिए साहचर्य से दूर भागने में ही आत्मशान्ति है। किसी को पाने में अपने को मिटा देना पड़ता है। मुझ में यह शक्ति हो भी पर उसमें भी हो ही यह आज भी कैसे मान लूँ!

इसके बाद की चर्चा घास-सी सूखी है। दो-चार दिनों बाद ही मेरा वहाँ से स्थानान्तर हो गया और भीगी पलकों से मुझे बिदा लेनी पड़ी। पर उसकी स्मृति ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। मैं उपाय खोजता रहा कि किस प्रकार उससे एक बार और जाकर मिल लूँ। एक बार या अन्तिम बार देखने की इच्छा में कहाँ कल्मष था। जीवन के प्रवाह में दो तिनके अलग हुए कि फिर मिलना क्या सम्भव है। पाँच मिनिट के लिए जाकर मिल आना कुछ कठिन नहीं है पर इतना आसान भी नहीं है। बैरिस्टर साहब या मेरे चाचाजी क्या सोचेंगे?

पर मेरे उर्वर मस्तिष्क ने एक उपाय खोज ही निकाला। जब अन्जो मैट्रिक का पेपर देकर निकले वहीं क्यों न मिल लिया जाय। उसने तीन बार अपने स्नेह का परिचय दिया मैं क्या एक भी प्रत्युत्तर न दूँ!

और पहिले पर्चे के दिन ही मैं उस केन्द्र के द्वार पर था। वह बड़ी प्रसन्न हुई। हम उसी तांगे पर जा बैठे जो उसे लेने आया था और मार्ग में जो बातें हुईं उसकी चर्चा नहीं करूँगा। वह मेरे जीवन की अन्तिम धरोहर है।

उसके बाद एक दिन सुना कि वह साहित्यरत्न में बैठी थी। सबसे तेज गति से लिखने में वह बाजी मार ले गई थी। केन्द्र के निरीक्षक ने कहा था।

वर्षों बाद सुना उसे उन्माद हो गया। फिर किसी ने एक दिन कह दिया उसकी मृत्यु हो गई पर अन्त में सुना कि यह समाचार असत्य है और मैं आश्वस्त हुआ। आज वह कहीं है अवश्य पर कैसी है और कभी मेरा स्मरण करती है इसे मैं कैसे जानूँ ? उसकी स्मृति मेरे अन्तर को अवश्य झकझोर जाती है और मैं विचलित हो उठता हूँ।